UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176496
UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Librar

Call No. Accession No.

Author

Title

This book should be returned on or before the
marked below.

क्या भारत सभ्य है?

लेखक

श्रीअरविन्द घोष

अनुवादक

देवनारायण द्विवेदी

प्रकाशक

एस० बी० सिंह ऐण्ड को०

काशी-पुस्तक-भंडार

बनारस सिटी।

प्रथम संस्करण] १६३४ [मूल्य ॥)

प्रकाशक
एस० बी० सिंह ऐण्ड को०
काशी-पुस्तक-भंडार
बनारस सिटी।

युगान्तर युगान्तर युगान्तर

नारी-धर्म-शिक्षा

(लेखिका—श्रीमती मनव्रता देवी)

यदि आप अपनी धर्मपत्नीको उच्चकोटिकी गृहलक्ष्मी बनाना चाहते हों तो "नारी-धर्म-शिक्षा" की एक प्रति अवश्य खरीदकर उन्हें दें। इसके पढ़नेसे जानते हैं क्या होगा ? होगा यह कि स्त्री क्या है, उसका धर्म क्या है, घरके और बाहरके लोगोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, धनकी रक्षा करते हुए थोड़ेमें कैसे गृहस्थी चलानी चाहिये, आदि अनेक स्त्रियोपयोगी बातें इस पुस्तकमें उन्हें मालूम होंगी। पुस्तककी उपयोगिता इसीसे मालूम होती है कि ५ वर्षोंमें इसके पाँच संस्करण हो गये। १०००० प्रतियाँ बिक चुकीं, इसीसे समझ सकते हैं कि पुस्तक कैसी है। मूल्य १।) पाँच चित्रों सहित सजिल्द १॥)

पता—एस० बी० सिंह ऐण्ड को०
बनारस सिटी।

मुद्रक
बजरंगबली 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।

क्या भारत सभ्य है?

१

सरजान उडरफ महोदयने "क्या भारत सभ्य है?" ("Is India Civilised?") नामकी एक छोटीसी पुस्तिका लिखी है। सरजान उडरफ महाशय एक सुविख्यात जज, सुपंडित और तंत्रशास्त्रके निपुण व्याख्यात हैं; तंत्रशास्त्रका प्रचार और उसकी व्याख्या करके एवं तंत्रके प्रकृत अर्थका समर्थन करके इसके पूर्व ही वह भारतवासियोंके कृतज्ञता-भाजन बन चुके हैं। नाट्य-जगत्के प्रसिद्ध समालोचक मिस्टर विलियम आर्चर (William Archer) ने भारतके समग्र जीवन और उसकी शिक्षा-दीक्षापर उग्र रूपसे आक्रमण करते हुए एक पुस्तक लिखी है, यह पुस्तक उसीका उत्तर है। मिस्टर आर्चर नाट्य-साहित्यकी समालोचना करनेके पूर्ण अधिकारी हैं, यह उनका

निरापद क्षेत्र है ; किन्तु भारतीय जीवनके सम्बन्धमें भी कुछ कहनेका उन्हें पूर्ण अधिकार है, यह समझना बहुत ही अज्ञा-नता-पूर्ण है। उन्होंने भारतके दर्शन, धर्म, कला (Art), साहित्य, उपनिषद्, रामायण सबको एक श्रेणीमें रखकर कहा है,—यह सब अत्यन्त घृणित और अकथनीय बर्बरता-पूर्ण स्तूप हैं। उन्होंने निन्दा करनेमें बहादुरी तो खूबकी है, पर उसका अवलोकन करते ही सारा वाद-विवाद मिट जाता है। मिस्टर आर्चरपर आक्रमण करना बड़ा ही आसान है। सर्वत्र उनका छिद्र पद-पदपर दिखलाया जा सकता है कि किस प्रकार उन्होंने स्वयं ही अपनेको पकड़ाया है। सर जान उडरफका मन स्थिर विचारोपयोगी है ; उनकी युक्ति-पूर्ण सुस्पष्टता या स्पष्टवादिता सराहनीय है। आर्चरको नीचा दिखलाना उनके लिए कुछ भी कठिन काम नहीं है। कहा जा सकता है कि मानों सरजान उडरफने आर्चरके विचारोंको चक्कीमें पीस डाला है। किन्तु ग्रंथ-कारने कहा है कि इन सब अज्ञतापूर्ण आक्रमणोंकी अवहेला करना कदापि उचित नहीं। यहाँतक कि उन्होंने इस आक्रमण-को एक विशेष श्रेणीका उदाहरण माना है। कारण यह कि पादरीगण जिस भावसे भारतीय सभ्यतापर आक्रमण करते हैं, यह आक्रमण उस कोटिका नहीं है। युक्तिवाद (rationa-listic standpoint) से यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है एवं

इन सब आक्रमणोंके पीछे जो प्रच्छन्न कुत्सित उद्देश्य है वह भी यहाँ प्रकट हो गया है। एक विशेष श्रेणीके उदाहरण-स्वरूप मिस्टर आर्चरकी कीर्त्तिकी आलोचना यथासम्भव अन्यत्र हमें करनी पड़ेगी ❀। प्रस्तुत पुस्तकमें उनकी निर्लज्जता-पूर्ण सारी अत्युक्तियोंको विदीर्णकर उसका आन्तरिक अभिप्राय किस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है, पाठकोंसे उसीका अनुसन्धान करनेके लिए अनुरोध है।

अपने देशके भविष्यके सम्बन्धमें जो लोग चिन्तन किया करते हैं, उन्हें सरजान उडरफकी लिखी हुई पुस्तक विशेष मनोयोग पूर्वक पढ़नी चाहिये। जो लोग मानव-जातिके आध्यात्मिक, मानसिक और संस्कृति-विषयक (Cultural) भविष्यके सम्बन्धमें कुछ जाननेको उत्सुक हैं, उनके लिए इस पुस्तकको आलोचना करनेकी विशेष आवश्यकता है, यह बात दृढ़ता-पूर्वक कही जा सकती है। स्पर्द्धा-पूर्वक जोरोंके साथ अत्यन्त सुस्पष्ट भावसे

❀ श्रीअरविन्द घोषने अपने "A Defence of Indian Culture" नामक ग्रंथमें मिस्टर आर्चर (Mr. Archer) के आक्रमणोंपर लक्ष्य रखकर समग्र भारतीय जीवन और संस्कृतियोंका जो गम्भीर और सुविस्तृत परिचय दिया है, वह भारतके दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, राष्ट्रनीति और समाजनीतिका अपूर्व दिग्दर्शन है। यह पुस्तक भी हिन्दीमें इसी कार्यालयसे प्रकाशित हुई है।

यहाँ ऐसा एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि मानव-जातिके भावी संगठनमें जिन समस्याओंका समाधान करना पड़ेगा, उन सबमें वही प्रश्न सबकी अपेक्षा अधिक प्रयोजनीय प्रतीत हो सकता है। जो यूरोप आज सब समस्याओंको लेकर मस्तक ऊँचा किये हुए हैं, इसकी तुलनामें वे सब समस्यायें अत्यन्त तुच्छ और सामयिक आवश्यकताओंके अन्तर्गत अवगत हो सकती हैं। सरजान उडरफ पूर्णरूपसे भारतीय सभ्यताकी विशिष्टताका परिचय देनेमें प्रवृत्त नहीं हुए हैं। उनका कहना है कि भारतीय सभ्यता वस्तुतः एक सभ्यता है कि नहीं, यह तर्क और आलोचनाका विषय ही नहीं है। कारण यह कि जिन लोगोंके मतका कुछ भी मूल्य है, उन सब लोगोंने एक स्वरसे भारतकी एक विशिष्ट सभ्यताका अस्तित्त्व स्वीकार किया है। बस, केवल इतना ही उन्होंने भारतकी सभ्यताके परिचयमें लिखा है। किन्तु जो गुरुतर तथ्य उन्होंने बारम्बार जोर देते हुए पाठकोंके सम्मुख रखा है, वह है विभिन्न संस्कृतियोंका पारस्परिक द्वन्द्व, खासकर यूरोपीय और एशियाई संस्कृतियोंका संघर्ष। अपेक्षाकृत बाहरकी वस्तु वैषयिक द्वन्द्वसे ही यह सांस्कृतिक द्वन्द्व पैदा हुआ है। विशेष करके भारतीय सभ्यताका विशिष्ट मर्म क्या है, एवं वह सभ्यता जो आज सांघातिक संकटके सम्मुख है, उसे सरजान उडरफ महाशयने अत्यन्त स्पष्ट भावसे दिखला दिया है। ग्रंथकारका मत है कि

भारतीय सभ्यताकी रक्षा करना मानव-जातिके कल्याणके लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है। उनकी दृढ़ धारणा है कि भारतीय सभ्यता विषम संकटोंमें पड़ी हुई है। उन्हें आशंका है— एवं एक स्थानपर उन्होंने यह आशंका स्पष्ट रूपसे प्रकट भी कर दी है कि, विक्षेपोंके भँवरमें जगतमें परिवर्त्तनका जो प्रचंड तूफान आ रहा है, उससे सम्भवतः भारतकी प्राचीन सभ्यता ध्वंस हो जायगी; एक ओर यूरोपीय आधुनिकताका तीव्र आक्रमण और दूसरी ओर उसकी सन्तानोंकी असह्य अवहेला, इसके फल-स्वरूप भारतकी सभ्यता, एवं जातिकी जो आत्मा इस सभ्यताको धारण किये हुए है, दोनों एक साथ ही अनन्त कालके लिए नष्ट हो जायँगी। यह पुस्तक हमलोगोंको सस्नेह आह्वान कर रही है कि हमलोगोंपर जो पवित्र गुरु-भार आ पड़ा है उसे हमलोग और भी अच्छी तरह हृदयंगम कर लें और भविष्यमें आनेवाली विपत्तियोंके सम्बन्धमें पूर्ण सजग हो जायँ तथा इस विषम परीक्षाके सन्धिकालमें दृढ़ता और निष्ठासे खड़े हो सकें। ग्रंथकारने बड़ी ही दक्षता और सराहनीय गम्भीरताके साथ अपना मत प्रकट किया है। ग्रंथमें इतना सुन्दर चित्र है और ऐसा स्पष्ट दिग्दर्शन है कि केवल उसीको उद्धृत कर देनेकी इच्छा होती है। किन्तु मूल विषयके बाहर जानेसे हमारा काम नहीं चलेगा। कोई भी विचार प्रकट करनेके पहले उसका

सारांश सामने रखना अधिक उत्तम होगा ।

जगतमें प्रकृत सुखका स्वरूप क्या है, मनुष्यके पार्थिव जीवनका यथार्थ लक्ष्य और उद्देश्य क्या है, सरजान उडरफने ग्रंथके आरम्भमें ही इसका वर्णन किया है । इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि वह है आत्मा, मन और देहकी सुसंगति । अतएवं किसी भी संस्कृति-(Culture) के गुणपर विचार करनेके लिए बैठनेपर यह देखना होगा कि वह इस संगतिका मूल-सूत्र कितने अंशोंमें ग्रहण कर सकी है ; किसी भी सभ्यता-(Civilisation) का गुण विचारते समय देखना होगा कि उसकी मूलनीति, भाव, आदर्श, अनुष्ठान, जीवन-पद्धति आदि इस संगतिको कहाँतक कार्यमें परिणत करनेमें समर्थ हुई हैं, उसके पद्योंको कितना सुरक्षित रख सकी हैं, उसकी स्थिरताके विधान और क्रम-विकाशके साधनकी कितनी व्यवस्था कर सकी हैं । इसके बाद यह देखना चाहिये कि कौनसी सभ्यता आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिके समान प्रधानतः देहवादी जड़वादी (Materialistic) हो सकती है, अथवा प्राचीन ग्रीक-रोमन संस्कृतिके समान प्रधानतः बुद्धि और मनकी सृष्टिके साथ रह सकती है, अथवा भारतकी वर्त्तमान स्थायी संस्कृतिके समान प्रधानतः आध्यात्मिक हो सकती है । भारतीय संस्कृतिकी केन्द्र-गत वस्तु हो रही है अनन्तकी कल्पना,—शाश्वत आत्माकी

परिकल्पना—वही आत्मा यहाँ जड़में आबद्ध और अनुस्युत[1] हुई है, जड़में व्यष्टि[2] के जन्म-जन्मान्तरसे क्रमशः ऊर्द्ध्व गति प्राप्त करके परिणाम-स्वरूप मानसिक जीव मनुष्यमें भाव और चिन्ता-के जगतमें, सज्ञान नैतिकता या धार्मिक जगत्में प्रवेश करती है, और भी अधिक अग्रसर होकर मनोयंत्रके सात्त्विक और आध्यात्मिक अंशके क्रम-वर्द्धनशील विकाशके फलसे व्यष्टिगत जीव अपनेको शुद्ध अध्यात्म चेतनाके साथ एकीभूत करनेमें समर्थ होती है। इस कल्पनापर ही भारतकी समाज-प्रणाली गठित है; उसका दर्शनशास्त्र इसीका प्रचार करता है; उसका धर्म है, अध्यात्म-चेतना और उसके फलकी प्राप्तिकी स्पृहा (aspiration), उसके आर्ट (कला) और साहित्यकी भी ऐसी ही उच्च दृष्टि है; उसका धर्म या उसकी जीवननीति इसीके ऊपर प्रतिष्ठित या स्थापित है। प्रगति (progress) को भारत स्वीकार करता है; किन्तु प्रगतिसे भारतका अभिप्राय है आध्यात्मिक प्रगति। जड़ात्मक वैषयिक सभ्यतामें क्रमशः अधिकाधिक समृद्ध और दक्ष होकर उठनेको ही भारत प्रगति नाम नहीं देता। इन्हीं कल्पनाओंपर भारतके जीवनकी प्रतिष्ठा है; उसकी प्रेरणा है अध्यात्म और शाश्वतकी ओर; बस यही उसकी सभ्यताका

१ गुँथी हुई या परिव्याप्त २ समूहको समष्टि और एकको व्यष्टि कहते हैं।

विशिष्ट मूल्य है ; मनुष्योचित चाहे जितने भी दोष या त्रुटियाँ हों, उसके आदर्शके प्रति इसी निष्ठाने उसकी सन्तानोंको मानव-समाजकी एक विशिष्ट-जातिमें परिणत किया है। किन्तु संसारमें अन्य प्रकारकी भी संस्कृति है जिसकी केन्द्रीय कल्पना बिलकुल ही भिन्न प्रकारकी है और लक्ष्य भी विपरीत है। इस संस्कृतिके अनुसार जो द्वन्द्वनीति जड़-जगतकी सर्वप्रथम नीति है, उसके फल-स्वरूप विभिन्न संस्कृति पारस्परिक संघर्षसे पैदा होगी ; वह अपना विस्तार करने एवं विरोधी और संस्कृतियोंको ध्वंस करनेसे उसका स्थान ग्रहण करनेकी चेष्टा करेगी, यह अवश्य-म्भावी है। अवश्य ही द्वन्द्व और संघर्षपर ही अन्तिम और आदर्श अवस्था अवलम्बित नहीं है ; वह आदर्श अवस्था तब आवेगी जब दूसरी संस्कृति स्वाधीनतापूर्वक आत्म-विकाश करेगी, आपसके द्वेष करने, भूल समझने या आक्रमण करनेको ही विशिष्ट लक्ष्य समझ उसे ग्रहण न करके सबमें जो छिपा हुआ एकताका भाव है उसे प्राप्त करेगी। किन्तु जबतक द्वन्द्वकी नीति ही बलपूर्वक अपना अधिकार रखती है, तबतक अस्त्र-त्याग करना घातक है ; जो संस्कृति अपनी स्वतंत्रता खो देगी तथा आत्म-रक्षाके उपायोंकी अवहेला करेगी, उसे दूसरी संस्कृति निगल जायगी एवं जो जाति उस संस्कृतिको ग्रहणकर जीवन व्यतीत करती रहेगी वह जाति अपनी आत्माको खोकर मटिया-

मेट हो जायगी। कारण यह कि मानव-समाजमें जो आत्मा बलवती होकर अपनेको प्रकाशित करती है, प्रत्येक जाति उसी प्रकाशशील आत्माकी एक-एक विशिष्ट शक्ति है एवं इस शक्तिका विकाश ही उसके जीवनकी नीति है। भारतवर्षसे अभिप्राय है भारतकी शक्तिसे ; इस महान अध्यात्म कल्पनाका प्राण है तेज-मूर्त्ति ; इसके निमित्त एकान्त निष्ठाको ही उसे अपने जीवनका ध्येय बनाना होगा। इसकी रक्षा करनेसे ही वह संसारकी अमर जातियोंमें सर्वश्रेष्ठ हो सका है।

द्वन्द्वनीति इतिहासमें विराट् रूपसे दिखलायी पड़ती है एशिया और यूरोपके युगयुगान्त-व्यापी संघर्षमें ; इस संघर्षको जिस प्रकार वाह्यिक और वैषयिक दिशाएँ हैं, उसी प्रकार संस्कृति और आध्यात्मिकताकी भी हैं। वैषयिक और आध्यात्मिक दोनों ओरसे बारम्बार यूरोप एशियाके ऊपर एवं एशिया भी यूरोपके ऊपर जा टूटा है। दोनोंकी ही इच्छा एक दूसरे-पर विजय पाने, ध्वंस करने, प्रभुत्व करनेकी रही है। इसमें कभी तो यूरोप आगे निकल गया है एशिया पीछे, और कभी इसका उलटा हुआ है ; दोनोंकी सदा यही गति रही है। समस्त एशियाका ही सर्वदा आध्यात्मिकताकी ओर लक्ष्य था, यद्यपि सब जगह इसकी गम्भीरता या स्पष्टता समान नहीं थी। इस विषयमें भारत ही एशियाकी विशिष्ट जीवन-धाराका श्रेष्ठ रूप

रहा है। यूरोपकी भी जो मध्यकालीन संस्कृति थी, उसपर एशियासे पैदा हुए ईसाई आदर्शका प्रभाव था ; इससे सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक लक्ष्य ही प्राधान्य प्राप्त कर सका था एवं उस समय एशियाकी संस्कृतिके साथ यूरोपकी संस्कृतिका यथार्थतः एक तरहसे सादृश्य हो गया था, कुछ अंशोंमें वैषम्यभी अवश्य था। संस्कृतिके विषयमें प्रकृतिगत भेद दोनोंमें सदासर्वदासे रहा है। गत कई शताब्दसे यूरोप जड़वादी, आक्रमणशील हो रहा है एवं मनुष्यके भीतर और बाहरकी सभ्यताके असली अर्थ, सत्य और सद्ज्ञानसे यूरोप हाथ धो बैठा है। विषयकी स्वच्छन्दता, विषयको उन्नति, विषयकी कार्य-दक्षता आदिको यूरोपने अपना उपास्य देवता बना लिया है। जो आधुनिक यूरोपीय सभ्यता एशियामें आ बिराजी है, एवं भारतीय आदर्शपर तीव्र आक्रमणोंके रूपमें जिसका परिचय मिल रहा है, वह यूरोपकी जड़वादी वैषयिक संस्कृतिका स्वभाव है। आध्यात्मिक लक्ष्यका उपासक भारत कभी भी यूरोपको ऊपर एशियाके वाह्य वैषयिक आक्रमण करनेमें योगदान नहीं दे सका था। अपने भावों और आदर्शोंको संसारमें फैलाना ही भारतकी श्रेष्ठ प्रणाली थी। आज फिर हम उसी प्रणालीका अभ्युदय देख रहे हैं। किन्तु समयके फेरसे आज वह स्वयं ही वैषयिक व्यापारोंमें यूरोपके अधीनस्थ हो गया है। इन वैषयिक

अधिकारोंके साथ-ही-साथ स्वभावत: संस्कृतिके अधिकारकी चेष्टा भी हो गयी है एवं यह आक्रमण भी बहुत-कुछ अग्रसर हो चुका है। दूसरी ओर अंग्रेजी शासन भारतको उसके सामाजिक आदर्श और विशेषताओंसे वंचित करनेमें समर्थ हो रहा है। जबतक भारत अपनी आत्मशक्तिसे विकसित होकर नहीं उठ रहा है, तबतक उसे अपने इस पतनसे अपनी रक्षा करनी पड़ेगी ; नहीं तो यूरोपीय आक्रमण भारतकी सभ्यताको डुबा देगा। अब भारतको अपने पैरोंके बलपर खड़ा होना पड़ेगा, विदेशी प्रभावसे भारतीय संस्कृतिकी रक्षा करनी होगी, उसकी उच्च आत्मा, मूलगत नीति, स्वभावानुयायी अनुष्ठान-समूहकी रक्षा करके अपनी मुक्तिका साधन एवं समस्त मानव-जातिके कल्याणका उपाय करना होगा।

किन्तु यहाँपर बहुतसे प्रश्न उठ सकते हैं। इस प्रकार आत्म-रक्षा और आक्रमणके भावका पोषण करना क्या ठीक है ? मानव-जाति जो उन्नतिके पथपर अग्रसर हुई है, उससे क्या हमारे लिए एकता, सामंजस्य और आदान-प्रदानके भावका पोषण करना ठीक नहीं होगा ? क्या समूचे संसारमें एक अखंड सभ्यता ही भविष्यका प्रशस्त लक्ष्य नहीं है ? आध्यात्मिक सभ्यता अथवा वैषयिक सभ्यता किसीपर भी अत्यधिक जोर देना क्या मानव-प्रगति या पूर्णताके लिए हितकर हो

सकता है ? दोनों प्रकारकी सभ्यताका समन्वय ही आत्मा, मन और देहकी सुसंगति-विधानका स्वाभाविक पथ प्रतीत होता है। फिर भी एक प्रश्न रह जाता है कि मूलभाव और आदर्शकी ही रक्षा करनी होगी या वाह्यरूप और अनुष्ठानकी भी रक्षा करनी पड़ेगी ? सरजान उडरफ महाशयने मानव-प्रगतिकी जो तीन अवस्थाएँ निर्दिष्ट की हैं, उन्हींके द्वारा वह इन सब प्रश्नोंका उत्तर देंगे। पहली अवस्था है द्वन्द्व और प्रतियोगिताकी। अतीतकालमें बराबर इसीकी प्रधानता थी और इस समय भी वह मानव-जातिको घेरे हुए है। कारण यह कि वैषयिक द्वन्द्व मिट जानेपर भी द्वन्द्वनीति जीवित रहती है, एवं संस्कृतिका द्वन्द्व और भी प्रबल हो उठता है। दूसरी अवस्थाके साथ मिलन और ऐक्य आता है। तीसरी और अन्तिम अवस्थाका लक्षण है, त्याग और आत्मदानका भाव। इस अवस्थामें सबमें एक ही आत्माका अनुभव होता है और प्रत्येक व्यक्ति दूसरेके कल्याण-के लिए अपनेको उत्सर्ग करता है। बहुतोंके लिए यह कहना उपयुक्त होगा कि उनके लिए अभी भी दूसरी अवस्थाका आरम्भ नहीं हुआ है। तीसरी अवस्था भविष्यकी अनिश्चयतामें स्थित है। व्यक्तिगत रूपसे कोई-कोई मनुष्य उच्चतम अवस्थामें जाता है; सिद्ध-सन्यासी, मुक्त पुरुष तथा परमात्मामें लीन हो जानेवाले महापुरुष ही विश्व-ब्रह्माण्डके सब प्राणियोंको आत्मवत् समझते

हैं। ऐसे महात्माओंके लिए आत्मरक्षा या आक्रमण निष्प्रयोजनीय है; सत्यका दर्शन करनेवाले महात्माओंमें इन सबको स्थान नहीं हैं। त्याग और आत्मदान ही स्वभावतः उनके कर्मकी एकमात्र नीति हो जाती है। किन्तु किसी जाति-विशेषको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। अज्ञान या अनिच्छासे अपनी आत्माके निकट सत्यके विरुद्ध आचरण करके किसी भी नीति या आदर्शका अनुसरण करना मिथ्या है, ऐसा करना आत्म-हत्या करना ही है। व्याघ्रसे घिरे हुए मेष-शावक[1]की भाँति यदि हम अपनेको निहत होने दें, तो उससे हमारा कुछ भी विकाश, उन्नति या आध्यात्मिक हित नहीं हो सकता। मिलन और ऐक्यका यथासमय होना सम्भव है, किन्तु वह सुदृढ़ ऐक्य होना चाहिये; उससे प्रत्येक व्यक्तिके विशेष प्रकारके विकाशकी पूर्ण स्वाधीनता कायम रहेगी; वह एक आदमीका एक आदमीको पूर्ण ग्रास बनाना नहीं है—अथवा असम्बद्ध और असंगत ऐक्य नहीं है; उसके लिए संसारके तैयार न होनेपर वह ऐक्य कदापि नहीं आ सकता। युद्धकालमें अस्त्रके परित्याग करनेका अर्थ है मृत्युको अपने निकट बुलाना। आध्यात्मिकताके साथ वैषयिकताका पूर्ण सामंजस्य-विधान तो अवश्य ही करना पड़ेगा; क्योंकि आत्मा तो मन और देहके बीच ही क्रिया करती है; खासकर शुद्ध मानसिक

१ भेंड़का छोटा बच्चा या छोटा मेंढ़ा।

या वैषयिक संस्कृतिके अन्तस्तलमें मृत्युका बीज छिपा हुआ है, कारण यह कि संस्कृतिका अन्तिम लक्ष्य है पृथिवीपर स्वर्ग-राज्यकी स्थापना करना। यद्यपि भारतकी प्रेरणा शाश्वतकी ओर है—कारण यह कि सदा वही श्रेष्ठ रहा है, वही पूर्णरीतिसे सत्य है—तथापि उसकी संस्कृति और उसके दार्शनिक तत्वमें शाश्वतके साथ वैषयिकताका परम समन्वय है; यह उसे कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा। इस नीतिके अनुसार बाह्य रूप और आकार मूलभाव और आत्माके समान ही प्रयोजनीय हैं; क्योंकि आकार तो आत्माका ही पद्य है; आकारको नष्ट कर देनेसे आत्माके आत्मा-प्रकाशको ही आहत और विपर्यस्त करना कहा जायगा। आकारका परिवर्त्तन हो सकता है और होगा; किन्तु वह एक नवीन आत्म-प्रकाशका विन्यास[1] होगा; वह भीतरसे आत्माके ही स्वधर्मके अनुसार विकशित होगा, एक विजातीय संस्कृतिके बाह्यरूपका निस्तत्त्व अनुकरणमात्र होनेसे काम नहीं चल सकता।

तो फिर भारत अपने इस संकटकालमें यथार्थतः कहाँ खड़ा है? इन दिनों वह यूरोपीय संस्कृतिके द्वारा बहुत अंशोंमें प्रभावान्वित हो गया है और वह संकट अभी दूर नहीं हुआ है यानी अभी भी प्रभावित होता जा रहा है एवं निकट-भविष्यमें वह और भी अधिक प्रबल और दुर्द्धर्ष हो जायगा। एशिया

१ भंगी या रचना।

मस्तक उठा रहा है; इसी कारणवश यूरोपीय सभ्यता एशियाको ग्रास बनाने और भस्मीभूत करनेकी प्रबल चेष्टा करेगी, उसने ऐसा करना प्रारम्भ भी कर दिया है। प्रतियोगिताकी नीतिके अनुसार उसकी यह चेष्टा करना स्वाभाविक और वैध है ; एशिया जब संसारके वैषयिक मामलोंमें अपने लिए फिर स्थान बना लेगा, तब एशियाके आदर्शसे यूरोपके दब जानेमें किसीको ज़रा भी सन्देह नहीं रह जायगा। यह संस्कृतिकी कलह हो रही है और राजनीतिक समस्याओंके द्वारा यह और भी जटिल हो गया है। संस्कृतिके विषयमें एशियाको यूरोपका एक प्रदेश बनना पड़ेगा एवं राष्ट्रनीतिके सम्बन्धमें एशियाको यूरोपके भावापन्न संघका एक अंश होना पड़ेगा। यूरोपकी संस्कृतिके विषयमें एशियाका एक प्रदेशमें परिणत होना, संसारके नवीन विधानमें समृद्ध, विशाल और शक्तिशाली एशियाकी जातिकी विजयिनी शक्तिसे एशियाका भावापन्न होना ही पर्याप्त नहीं है। मिस्टर आर्चरके आक्रमणका स्पष्टतः राजनीतिक उद्देश्य है। उन्होंने जो तान छेड़ी है उसका मुख्य स्वर यह है कि संसारका नवीन संगठन युक्तिवादी (rationalistic), जड़वादी यूरोपीय सभ्यताकी ही नीति और आदर्शके अनुसार होना चाहिये ; यदि भारत अपनी सभ्यताको, अपनी अध्यात्म-प्रेरणाको, अपनी आध्यात्मिक गठननीतिको धारण किये रहे तो वह भारत इस सुन्दर,

दीप्तिमान, युक्तिवादी जगत्का प्राण-विपर्यय और कुत्सित कलंक-स्वरूप होगा। या तो उसे अपनी सारी सत्ताओंमें यूरोपीय भावापन्न, युक्तिवादी और जड़वादी हो जाना पड़ेगा एवं इस प्रकार स्वाधीनताकी योग्यता प्राप्त करनी होगी अन्यथा उसे पराधीनताके फन्देमें बाँधे रखकर उसपर शासन करते रहना पड़ेगा; उसके तीस करोड़ धर्म-भीरु बर्बर निवासियोंको जोरोंके साथ दबाये रखकर महान और शक्ति-सम्पन्न यूरोपियनोंके द्वारा शिक्षित और सभ्य बनाना पड़ेगा। उक्त कथन सुननेमें अवश्य ही बड़ा आश्चर्य-जनक प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः भीतरी उद्गार यही है। अवश्य ही इन सब आक्रमणोंसे भारतमें जागृति पैदा हो गयी है और वह अपने पक्षका समर्थन करने लग गया है, किन्तु जिस तीव्रता, स्पष्ट दृष्टि और दृढ़ संकल्पद्वारा भारतकी इस संकटसे रक्षा हो सकती है, अभी भी उसका अभाव है। आज यह समस्या आकर उपस्थित हुई है कि भारत क्या करेगा; वह बचना चाहता है या नष्ट हो जाना चाहता है, दोमेंसे एक को वह चुन ले।

मैंने यहाँपर बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया है; सरजान उडरफने अपनी विचार करनेके योग्य बुद्धिसे विषयको जिस प्रकार पूर्णताके साथ स्पष्ट किया है, चारो ओरसे देखा है, अनेक आवश्कीय प्रासंगिक बातोंका उल्लेख किया है, वर्त्तमान

समयमें उन सब बातोंकी चर्चा करना हमारे लिए न तो सम्भव ही है और न उसका प्रयोजन ही। उनके मतोंके साथ साधारणतया हम सहमत हैं। लेखकने जिस सावधानीके साथ शब्दोंका प्रयोग किया है, उसकी अवहेला करनेसे काम नहीं चल सकता। यूरोपियन लेखक और राजनीतिज्ञोंने आधुनिक समयमें जैसी उक्तियाँ की हैं, उनसे सरजान उडरफकी आशंकाका समर्थन होता है और यह मालूम होता है कि विपत्ति वास्तवमें है। वस्तुतः युगान्तर-सूचक विशाल परिवर्त्तनके इस सन्धिकालमें वर्त्तमान राष्ट्रनीतिक समस्या और मानव-जातिकी संस्कृतिकी गतिसे अवश्यम्भावी रूपसे यह संकट पैदा हुआ है। कुछ विषयोंमें उनके साथ हमारा किंचित् मतभेद है, जिसका दिखला देना हम अच्छा समझते हैं। उन्होंने यूरोपकी मध्यकालीन संस्कृतिका जो गुणगान किया है, उसे हम ठीक मान लेनेके लिए तैयार नहीं है ; इस युगकी सुकुमार शिल्पचर्चाकी प्रवृत्ति एवं गम्भीर और नितान्त धर्म-प्रेरणा, हमारे विचारसे उस समयकी महान अज्ञानता और संस्कारज विरोधिता, दूसरेका मत जाननेकी निष्ठुर असहिष्णुता और कुछ आदिम ट्यूटोनिक (Teutonic) जाति-सुलभ कठोरता, कर्कशता और बर्बरताद्वारा दब गयी है। उन्होंने परवर्त्ती यूरोपीय संस्कृतिपर अत्यधिक आक्रमण किया है, ऐसा हमें जान पड़ता है। इस संस्कृतिमें जो प्रयोजनवादी

जड़तांत्रिकता (Utilitarian Materialism) का प्रवाह है, वह बड़ा ही क्षुद्र है। यदि हमलोग उसका अनुकरण करें तो वह हमारी भद्दी भूल होगी। फिर भी यह कहा जायगा कि वह प्रवाह ऐसे महत्तर[१] आदर्शोंद्वारा सजीव हुआ है जो मानव-जातिका बहुत बड़ा उपकार कर सका है। यद्यपि उसका स्वरूप इस समय भी कार्यरूपमें परिणत नहीं हुआ है और अधूरी अवस्थामें है, तथापि भारतीयोंके मनके पूर्णरीतिसे ग्रहण करने योग्य बनानेके लिए उसमें अध्यात्म-भाव और सार्थकता लानेकी आवश्यकता पड़ेगी। हमें यह भी जान पड़ता है कि उन्होंने भारतके नवीन जागरणकी शक्तिको बहुत ही साधारण रूप दिया है; उसकी बाहरी सफलता नहीं है, वह इस समय भी अधूरा है, किन्तु उन्होंने उसकी आध्यामिक और अन्तर्निहित शक्ति तथा अवश्यम्भाविताकी यथार्थ नाप नहीं की है। एक श्रेणीके भारतीय जो परम अशुभ-सूचक दासतापूर्ण कल्पना करके कहते हैं कि "पश्चिमी रीतिनीतिको आदर्श मान उसे ग्रहण करना छोड़कर भारतको दूसरा मार्ग नहीं है," उन्होंने इस श्रेणीको लेकर थोड़ा वाद-विवाद किया है।—ऐसा मनोभाव इस समय केवल राजनीतिक क्षेत्रमें पाया जाता है,—यह भी हम स्वीकार करते हैं कि अवश्य ही यह भी एक बड़ा ही आवश्यक क्षेत्र है एवं एक

१ महान।

तरहसे इसमें बड़े संकटका दरवाजा खुला हुआ है ; किन्तु इसमें भी गम्भीर भावके परिवर्त्तनकी सूचना मिल रही है। हमारे हृदयमें यह भी बात आती है कि भारतका जो भाव और आदर्श यूरोपमें संचारित हो रहा है तथा इसी रूपसे भारत विशेषता-युक्त यूरोपियनोंके आक्रमणका जवाब दे रहा है, इस सत्यको भी उन्होंने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया है। यहींसे हम सारी समस्याओंको एक विभिन्न रूप देना चाहते हैं।—

सरजान उडरफने हमलोगोंको जोरोंके साथ आत्म-रक्षा करनेके लिए आह्वान किया है, किन्तु इस समयके संघर्षमें केवल आत्मरक्षाका भाव रखनेसे पराजित ही होना पड़ेगा। युद्धके समय आत्मरक्षा करनेके लिए आत्मरक्षाकी सुदृढ़ दीवारपर खड़े होकर आक्रमण करना ही एकमात्र निरापद और निर्भय योग्य नीति है ; क्योंकि केवल इसीके द्वारा आत्मरक्षा हो सकती है। क्यों भारतवासियोंकी एक श्रेणीके लोग आज भी यूरोपीय सभ्यताके मोहमें पड़े हुए हैं और क्यों आज भी हमलोग राजनीतिके क्षेत्रमें यूरोपियनोंके द्वारा मंत्रमुग्ध हुए हैं ? कारण यह है कि उक्त श्रेणीके लोगोंकी सारी शक्ति और कार्यपरता केवल यूरोपकी ओर लगी हुई है ; भारतकी केवल निष्क्रियता, केवल अचल, अक्षम आत्मरक्षाकी दुर्बलताकी ओर ही इनकी दृष्टि जाती है। किन्तु जहाँ कहीं भारतीय आत्माने जोरोंके साथ

प्रतिघात किया है, वहीं यूरोपके इन्द्रजालने तत्क्षण अपनी सम्मोहिनी शक्तिका खोना आरम्भ कर दिया है। धर्मके विषयमें यूरोपने पहले बड़ी ही तेजीसे आक्रमण किया था। किन्तु आज उसकी शक्तिका कोई मनुष्य अनुभव भी नहीं करता ; कारण यह कि हिन्दू-धर्मका फिर जो अभ्युत्थान होने लगा है और उससे जो सृष्टिका कार्य आरम्भ हुआ है, उसने भारतके धर्मको सजीव, विकाशशील, निःशंक, विजयी और आत्म-विस्तार करनेवाली शक्तिमें परिणत कर दिया है। किन्तु इस व्यापारका निश्चय दो घटनाओंद्वारा हुआ था ; एक थियोसोफिकल (Theosophical) आन्दोलनका उत्थान है और दूसरा चिकागोसे स्वामी विवेकानन्दका आगमन। इन्हीं दोनोंसे भारतकी आध्यात्मिकता आक्रमण करनेमें प्रवृत्त देखी गयी थी, उसने पश्चिमी जड़ भावापन्न मनपर विजय पाने और उसका परिवर्त्तन करनेका इरादा किया था। भारतका समूचा शिक्षित समाज सौन्दर्य-ज्ञानके विषयमें हीन-रुचि और यूरोपीय ढंगका हो गया था ; बंगीय कला-परिषद्की (Bengal School of Arts) स्थापनासे जो उज्ज्वल प्रभात हुआ है, उसकी ज्योति टोकियो, लन्दन, पेरिस आदि सुदूर देशोंतक जा पहुँची है। यद्यपि यह घटना बहुत ही थोड़ा समय पहलेकी है, तथापि संस्कृतिके विषयमें इतने अल्प समयके भीतर इसने क्रान्ति पैदा कर दी है—उथल-पुथल कर दिया है। इसमें

कोई सन्देह नहीं कि इसके पूर्ण होनेमें अभी बहुत कसर है, तथापि इसकी अग्रगति अबाध है ; इसका भविष्य सुन्दर है, यह निश्चित है । अन्यान्य विषयोंमें भी ऐसा ही हो रहा है । यहाँतक कि राजनीतिके क्षेत्रमें भी स्वदेशी आन्दोलनके समय चरम-पंथियोंकी नीतिका यही रहस्यपूर्ण गूढ़ अर्थ था । देशकी वर्त्तमान अवस्थामें यूरोपका अनुकरण करनेके सिवा भारतके लिए राजनीतिक क्षेत्रमें कोई नयी बात पैदा करना असम्भव है, इस प्रचलित धारणाको भ्रान्त प्रमाणित कर देनेकी ही स्वदेशी आन्दोलनकी चेष्टा थी । वह चेष्टा समयके फेरसे व्यर्थ हो गयी; या यों कहिये कि उसका प्राथमिक अनुष्ठान नष्ट हो गया अथवा वह शक्तिहीन एवं मूल आदर्शसे च्युत हो गया । अतएव इस ओर भी भारतवासियोंके लिए संकटोंका समूह है । किन्तु जिस समय अनुकूल अवस्थाके फल-स्वरूप प्रशस्त द्वार खुलेगा, उसी समय फिर उस चेष्टाका विकाश होना अवश्यम्भावी है । इन्हीं दिनों किसी-किसीने Self-determination या स्व-नियंत्रण अथवा स्व-राज्यका अत्यन्त गम्भीर अर्थ करना भी शुरू कर दिया है ।

किन्तु हमलोगोंको सबसे पहले सारे प्रश्नोंको संसार-व्यापी सार्थकताकी दृष्टिसे देखना होगा । यह सत्य है कि द्वन्द्व, युद्ध और प्रतियोगिताकी नीतिका अभी भी आन्तर्जातिक सम्बन्ध-पर शासन है और अभी वह शासन कुछ दिनोंतक रहेगा,—

चाहे युद्धका यह रूप भले ही न रहकर दूसरा रूप हो जायगा। इसके साथ ही यह भी देखा जा रहा है कि मानव-जातिके जीवनमें एक दूसरेके निकट आनेका भाव बढ़ना ही आजकल खास लक्ष्य करनेका विषय है। यूरोपीय महायुद्धने साधारणतया इसे स्पष्ट कर दिया है और इसका पूरा अर्थ युद्ध समाप्त होनेके बाद समझमें आवेगा। किन्तु इस समय भी प्रकृत मेल होना असम्भव है, सच्ची एकताकी सूचना अभी और भी दूर है; यह तो घटना-चक्रने जबर्दस्ती हमलोगोंको बाहरी एकतामें ला ढकेला है। मानसिक, नैतिक और संस्कृतिके क्षेत्रमें निश्चय ही इस वाह्य एकताका फल फलेगा। सम्भवतः अधिकांश जगह इससे पहले द्वन्द्व ही स्पष्ट रूपसे प्रकट होगा। दृष्टान्त-स्वरूप धनियों और मजदूरोंके द्वन्द्वका उल्लेख किया जा सकता है; यदि अन्तमें संस्कृतिका द्वन्द्व भी उपस्थित हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। संस्कृतिके सम्बन्धमें इसका यह भी परिणाम हो सकता है कि यूरोपकी आक्रमणशील संस्कृति अन्यान्य सबको अपना ग्रास बनाकर एक विभिन्न प्रकारकी एकता उत्पन्न करे; उसका रूप क्या होगा, धनिकतंत्र, श्रमिकतंत्र या युक्तितंत्र यानी धनियोंका प्रतिपादक होगा अथवा मजदूरोंका या युक्तिका, यह अभीसे कहना बड़ा कठिन है। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि मुख्य एकताको लेकर एक स्वतंत्र एकता साधित हो। किन्तु

प्रत्येक जाति अपनेको तीव्रताके साथ अलग करके अपनी-अपनी पृथक संस्कृतिका विकाश करेगी एवं हर तरहके विदेशी भाव और कार्यारम्भको पूर्ण रीतिसे निकाल बाहर करनेकी नीतिका वह अनुसरण करेगी ; कुछ समयसे जो इस आदर्शका प्रचार हो रहा था एवं क्रमशः प्रबल होता जा रहा था, वही फिर उपस्थित होगा, यह बात नहीं जँचती,—मिलन और ऐक्यको लक्ष्यमें रखकर प्रथम चेष्टाके हिसाबसे जो League of Nations या आन्तर्जातिक संघका प्रचार हुआ है, वह यदि नष्ट हो जाय तो यह दूसरी बात है एवं ऐसा होना आडम्बर और बिलकुल असम्भव नहीं है । इस समय यूरोप ही संसारके ऊपर शासन कर रहा है; इसलिए इस प्रकारकी भविष्यवाणी करना स्वाभाविक है कि समूचा संसार यूरोपीय भावोंसे प्रभावित हो जायगा एवं यूरोपकी एकतामें ही जो सामान्य इतर-विशेष हैं उन्हें छोड़कर और कुछ भी सहन करना नहीं पड़ेगा । किन्तु इस भविष्यकी सम्भावनाके ऊपर भारतवर्षकी विशाल छाया आकर पड़ती है ।

सरजान उडरफने अध्यापक डिकिन्सनके (Lowes Dicki--nson) मतका हवाला दिया है कि द्वन्द्व एशिया और यूरोपमें उतना ही है, जितना भारत और बाकी समूचे जगतमें है । उनके इस मतमें एक सत्य बात यह छिपी हुई है किन्तु स्पष्ट है कि यूरोप

और एशियाका द्वन्द्व भी एक गिनती करनेके योग्य वस्तु है। आध्यात्मिकता भारतवर्षकी ऐसी-वैसी वस्तु नहीं है; यह बौद्धिकताके (intellectualism) के नीचे चाहे जितनी भी दबी रहे या अन्य किसी आवरणमें छिपी रहे, किन्तु यह मानव-जीवनका एक प्रधान और अवश्यम्भावी अंश है। भेद केवल यही हो रहा है कि आध्यात्मिकताको ही बाह्य और आभ्यन्तरिक समस्त जीवनकी प्रधान प्रेरणा और निर्णय करनेवाली शक्ति समझकर ग्रहण करना होगा, या आध्यात्मिकता केवल एक कारुणिक शक्ति होकर रहेगी। युक्तिवादियों या प्राणको जड़का अनुगामी माननेका दावा करनेवालोंके समीप इस दोषको अस्वीकार करना होगा या नीचा स्थान देना होगा। पहले प्राचीन प्रज्ञा यानी ज्ञानका स्वरूप था; एक समयमें चीन देश यथार्थतः सब सभ्य देशोंका आदर्श था। किन्तु और सब जातियाँ इस आदर्शसे च्युत हो गयी हैं, इसकी उदार व्यापकताका ह्रास किया है, अथवा— इस समय जैसा एशियामें हो रहा है कि—आक्रमणशील धनी, वाणिज्य-व्यवसायी, शिल्पी, मुक्तिमार्गी, प्रयोजनवादी इसका परित्याग करके आधुनिक आदर्शको ग्रहण करेंगे, इसकी आशंका हो रही है। केवल भारत चाहे क्षुण्ण ज्ञान और शक्तिके साथ ही क्यों न हो, वह इस सत्य आध्यात्मिक आदर्शके प्रति निष्ठावान बना हुआ है; एकमात्र भारत ही किसी प्रकार भी इसे न छोड़कर

"अबाध्य" बना हुआ है, वस्तुतः मिस्टर आर्चरने रुष्ट होकर यही अभियोग लगाया है,—उन्होंने कहा है कि चीन और जापानने इस निर्बुद्धिपूर्ण मार्गको छोड़ दिया है, अर्थात् चीन और जापान दोनों ही देश युक्तिपन्थी और जड़वादी हो गये हैं—यद्यपि मिस्टर आर्चरकी इस बातकी पूर्ण सत्यतापर विश्वास करनेके लिए हम प्रस्तुत नहीं हैं,—एकमात्र भारतने ही (व्यक्तिगत रूपसे या छोटी-छोटी श्रेणियोंके ही हिसाबसे, जो जैसा समझे) जातिके हिसाबसे अपने उपास्य देवताका त्याग करने एवं युक्ति, वाणिज्य और धनतंत्र-रूपी प्रबल प्रतापी प्रतिमा-(मूर्त्ति) के सम्मुख मस्तक झुकानेसे हर तरहसे अस्वीकार किया है । इससे आघात अवश्य पहुँचा है, किन्तु वह इस समय भी ज्ञान-रहित नहीं हुआ है । बहुतसे पश्चिमी भावोंको भारत ग्रहण भी कर रहा है, जैसे स्वाधीनता, साम्य (समता) आदि ; किन्तु ये भाव उसके वैदान्तिक सत्यके विरोधी नहीं हैं । इन भावोंका पाश्चात्यरूपमें आना भारतको तृप्त नहीं कर रहा है, किन्तु किस प्रकार इन भावोंको भारतीय रूप दे, यह चिन्तनीय विषय हो रहा है । इसके विषयमें भारतने सोचना आरम्भ कर दिया है और इससे उक्त भाव निश्चय ही अध्यात्म भावापन्न हो जायँगे । इस अवस्थाके केवल दो परिणाम हो सकते हैं । या तो भारत यूरोपके प्रभावसे युक्तिपन्थी और शिल्पतांत्रिक हो

जायगा और या वह अपने अपूर्व दृष्टान्तोंके द्वारा एवं संस्कृति-विषयक भावोंके संचारद्वारा नयी-नयी प्रवृत्तियोंको तेजीके साथ सहायता करके समूचे मानव-जगतको ही अध्यात्म भावापन्न कर देगा। आज यही प्रश्न समाधानकी प्रतीक्षा कर रहा है कि जो भारत आध्यात्मिक आदर्शका प्रतिनिधि है, वह यूरोप-पर विजय पावेगा या यूरोपका युक्तितंत्र और व्यवसायतंत्र भारतीय संस्कृतिके आदर्शको नष्ट कर देगा।

भारत सभ्य है या नहीं, केवल यही प्रश्न नहीं है। भारत-की सभ्यताके आदर्श या प्राचीन यूरोपके बौद्धिक (intelleetual) आदर्श अथवा आधुनिक यूरोपके जड़ तांत्रिक आदर्शमें कौनसा आदर्श मानवीय संस्कृतिको परिचालित करेगा ? हमारे जड़ जीवनकी स्थूलनीति बुद्धिके द्वारा नियंत्रित होकर अथवा प्रबल आध्यात्मिकताका क्षीण निष्फल स्पर्श लेकर आत्मा, मन और प्राणके सुसंगतिकी भित्ति होगी, या, आत्माकी ही शक्ति प्रधान बनकर मन, बुद्धि और देहके जीवनको उच्चतम सामंजस्य और संगतिसे उठनेकी महान साधनामें प्रवृत्त होनेके लिए बाध्य करेगी ? यही प्रकृत प्रश्न है।—भारतको आत्मरक्षा करनी होगी और अपने जातीय जीवनके अनुष्ठानको इस प्रकार पुनः संग-ठित करना होगा, जिसमें वह अपने प्राचीन आदर्शको अधिकतर शक्ति, निविड़ता (सघनता) और पूर्णताके साथ प्रकाश कर

सके। इसी प्रकार उन्मुक्त शक्ति और तेजकी तरंग लेकर भारत फिर संसारको परिक्रमण करेगा ; प्राचीनकालमें जिस भारतने संसारपर अधिकार जमाया था और उसे शिक्षा-दीक्षासे आलोकित किया था, उस भारतको इसो प्रकार फिर विजयकी दुन्दुभी बजानी पड़ेगी। सामयिक दृष्टिसे चाहे द्वन्द्व ही क्यों न दिखलायी पड़े, वह पाश्चात्य देशोंके उच्च चिन्ता-प्रवाहसे जो उत्कृष्ट वस्तुमें उत्पन्न हो रही हैं, उनकी वृद्धिमें ही कार्यतः सहायता करेगा। अतएव वह वस्तुतः एक उच्चतर भूमिसे मिलनका सूत्रपात करेगा एवं इसी भावसे प्रकृत ऐक्यके पथकी शुद्धि कर देगा।

२

जिस प्रश्नसे यह वृहद् विचारणीय विषय उठा है, वह दिखौआमात्र है ; वह प्रश्न अपने संकीर्ण अर्थमें सीमाबद्ध नहीं है ; उससे एक और भीषण समस्या उपस्थित हो जाती है । वह यह कि क्या यौक्तिक बुद्धि (Reason) एवं विज्ञानके (Science) ऊपर स्थापित संस्कृतिमें ही मानव-जातिका भविष्य निहित है ? जो मानवीय मन, जो धारावाहिक समष्टिगत मन क्षणभंगी व्यक्तियोंके चिर-परिवर्त्तनशील समष्टिद्वारा गठित है, जो एक अचेतन जड़-जगतके अन्धकारसे आविर्भूत हुआ है और चिरकालसे इसीमें किसी अज्ञात स्पष्ट आलोकके लिए इसकी विघ्न-बाधायें सबमें किसी निश्चित आश्रयके लिए विभ्रान्त हो रही हैं, उसी मनकी चेष्टामें गठित पांडित्यपर ही क्या मानवी भविष्य निर्भर है ? उसी आलोक और आश्रयका वह मन अनु-

सन्धान करेगा युक्ति-संगत ज्ञान और जीवनमें, जड़-प्रकृतिकी शक्ति और सम्भावना सबसे सुसम्बद्ध ज्ञानमें, देह-मनमें सीमाबद्ध मनुष्यके मनस्तत्त्वके विषयमें सुसम्बद्ध ज्ञानमें ; एवं उस ज्ञानके शृंखलित प्रयोगमें क्रमोन्नतिशील समाजकी दक्षता और कल्याणका साधन होगा, जिससे मनुष्यका क्षण-स्थायी जीवन और भी सहनीय, और भी अधिक सुखमय, आराम देनेवाला हो, वह मन, प्राण, देहके भोगमें और भी अधिक मात्रामें समृद्ध हो जाय,—क्या यही सभ्यताका प्रवाह है ? हमारे समस्त दर्शनोंको, धर्मको (यदि धर्मको इस समय निकाल देनेका ही समय न आया हो) हमारे समस्त विज्ञान (science), चिन्ता, कला, सामाजिक संगठनको, कानून, अनुष्ठानको क्या जीवनके सम्बन्धमें ऐसी ही धारणाकी नींवपर स्थापित करना होगा एवं इसी लक्ष्यके साधनमें नियुक्त करना होगा ? यदि हमारे जीवनका केवल यही पूर्ण सत्य हो तो ऐसा करना ही युक्तिसंगत होगा । यूरोपकी सभ्यताने यही आदर्श ग्रहण किया है और इसे किसी प्रकार सफल बनानेके लिए अबतक विपुल प्रयास कर रहा है । यही यौक्तिक (Rational) एवं बुद्धिद्वारा यंत्रवत् गठित सभ्यताका सूत्र हो रहा है । दूसरी ओर क्या यही हमारे जीवनका सत्य है कि प्रकृतिसे आविर्भूत (उत्पन्न) आत्मा अपनेको जानना चाहती है, पाना चाहती

है, अपनी चेतनाका प्रसार करना चाहती है, आध्यात्मिकतामें अग्रसर होना चाहती है, पूर्व आत्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रज्वलित एवं किसी प्रकार दिव्य सिद्धि और पूर्णता प्राप्त करना चाहती है ? धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिन्ता, कला, समाज, सम्पूर्ण जीवन आदि क्या इस प्रकार विकाशके सहायकमात्र हैं, आत्माके यंत्रमात्र हैं, उसीके लिए ये सब काममें लाये जायँगे, अन्ततः यह आध्यात्मिक लक्ष्य सिद्धि ही उनका सर्वप्रधान कार्य होगी ? प्राचीन भारतकी मानव-जीवनके सम्बन्धमें यही प्राचीन धारणा (उसके मतसे यही ज्ञान) थी, एवं आज भी उसकी प्रकृतिसे सबकी अपेक्षा स्थायी और शक्तिमान जो कुछ है, वही सब इसे रोक रखनेकी चेष्टा कर रहा है।—यही आध्यात्मिक सभ्यताका सूत्र हो रहा है।

अतएव, मानव-जातिका भविष्य यौक्तिक और बुद्धिकी सहायतासे यंत्रवत् गठित सभ्यता और संस्कृतिमें निहित है—या आध्यात्मिक साक्षात् बोध-मूलक (intuitive) धार्मिक (धर्म शब्दको व्यापक अर्थमें लेना चाहिए) सभ्यता और संस्कृतिमें निहित है, यही प्रधान प्रश्न हैं। युक्तिवादी समालोचक जब यह कहते हैं कि भारत न तो सभ्य है और न कभी सभ्य था, जब उपनिषद, वेदान्त, बौद्धधर्म, हिन्दूधर्म, प्राचीन भारतकी कला और काव्यको बर्बरताका—पामरताका—स्तूप कहकर, अत्यन्त

नीच मनकी असार रचना घोषित करते हैं, तब उनके कथनका केवल यही अर्थ होता है कि, सभ्यता और युक्तिमार्गी जड़वाद एक ही बात है, जो कुछ इस आदर्शके नीचे पड़ जाती है, उसे संस्कृतिके नामसे या सभ्यताके नामसे अभिहित करनेसे काम नहीं चलता। जो दर्शनशास्त्र अत्यधिक मात्रामें दार्शनिक (metaphysical) है, जो धर्म अत्यधिक मात्रामें धार्मिक है, जो चिन्ता और कला अत्यधिक मात्रामें idialistic ❀ आदर्शतांत्रिक एवं गूढ़ार्थ सूचक है;—जड़ जगतकी आलोचनामें प्रवृत्त यौक्तिक बुद्धिकी सीमाबद्ध दृष्टिसे जो कुछ छूट जावे, अत्यन्त सूक्ष्म भावसे दर्शन करना चाहे तथा उसीके निकट अद्भुत, अति सूक्ष्म, असंगत और दुर्बोध्य प्रतीत हो ; जो कि अनन्तकी प्राप्तिद्वारा अनुप्राणित है, जो असीमकी कल्पनामें प्रभावित है, एवं जो समाज इन सब वस्तुओंसे उत्पन्न चिन्ता और आदर्शके द्वारा बहुत-कुछ नियंत्रित है, केवल यौक्तिक बुद्धिकी स्वच्छता एवं जड़वादमूलक विकाश और दक्षताके आदर्शद्वारा नियंत्रित नहीं है,—वह सब एक अर्वाचीन चातुर्य-

❀ कलाका निरूपण दो तरहसे होता है ; एकको realistic art कहते हैं और दूसरेको idialistic art. जो रचना ज्योंकी त्यों या तद्रूप हो, उसे realistic art और जो रचयिताकी रुचिके अनुकूल हो चाहे उसका असली स्वरूप भिन्न प्रकारका ही क्यों न हो उसे idialistic कहते हैं।

पूर्ण बर्बरताकी ही सृष्टि यानी रचना है। किन्तु यह साफ-साफ अतिशयोक्ति है, मानव-जातिके अतीत महत्वका बहुत-कुछ अंश इस दोषारोपणमें आ जाता है ; यहाँतक कि प्राचीन ग्रीक सभ्यता भी सुरक्षित नहीं बच सकी ; आधुनिक यूरोपकी सभ्यता-की चिन्ता और कलाको भी अन्तमें अर्द्ध बर्बर कहकर निन्दा करनी पड़ेगी। यह बिलकुल साफ है कि, यदि हमलोग संस्कृति शब्दका अर्थ इस प्रकार संकीर्ण कर डालें एवं मानव-जातिकी सारी चेष्टाओंका मूल्य इस प्रकार नष्ट कर दें तो वह हमारे लिए अत्यन्त लज्जा और मूर्खताकी बात होगी। ग्रीक-रोमन सभ्यता, ईसाई, मुस्लिम एवं परवर्त्ती यूरोपीय पुनरभ्युदित (Renaissance) सभ्यताकी भाँति ही भारतीय सभ्यता महान है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

फिर भी मूल प्रश्नका समाधान नहीं हुआ। किसी-किसी अधिक संयत और स्पष्टदर्शी युक्तिपंथी समालोचकको भारतकी प्राचीन कीर्त्तिका मूल्य स्वीकार भी हो सकता है ; बौद्ध-धर्म, वेदान्त एवं समूचे भारतकी कला, दर्शन और चिन्ता-प्रवाहको बर्बर कहकर वे समालोचक धिक्कार नहीं सकते, तथापि वे कहेंगे कि उससे मानव-जातिका कुछ भावी हित नहीं हो सकता, वह तो यूरोपकी आधुनिकतामें, विज्ञानके महान कीर्त्ति-कलापमें, मानव-जातिकी महान आधुनिकताके अभियानमें है। वह चेष्टा

केवल अन्दाज और कल्पनाके आधारपर नहीं है वरं निर्द्धारित और स्पष्ट वैज्ञानिक सत्यपर दृढ़भावसे प्रतिष्ठित है, बड़े परिश्रमसे गठित वैज्ञानिक रचनाको (organisation) सुदृढ़ और सुनिश्चित नींवपर प्रतिष्ठित है। किन्तु दूसरी ओर अपने आदर्शपर निष्ठा रखनेवाले भारतवासी कहेंगे कि मानव-जीवनमें यौक्तिक बुद्धि, विज्ञान एवं अन्यान्य आनुषंगिक या प्रासंगिक वस्तुकी उपयोगिता होते हुए भी प्रकृत सत्य सबके ऊपर या सबसे बढ़कर है ; हमारी अन्तिम सिद्धि और पूर्णताका निगूढ़ तत्व आविष्कार करनेके लिए और भी गम्भीरताके साथ भीतर घुसना होगा। अध्यात्म आत्मज्ञान और आत्म-विकाशमें एवं समूचे जीवनको उस आत्म-ज्ञानकी दीवारपर खड़ा करनेमें ही वह रहस्य छिपा हुआ है।

विचारणीय विषयका इस प्रकार उत्थापन करनेपर हम तत्क्षण देखते हैं कि प्राच्य (पूर्व) और पाश्चात्यमें, भारत और यूरोपमें तीस-चालीस वर्ष पहले जिस प्रकार व्यवधान गम्भीर और दुरतिक्रम्य था, इस समय उसकी अपेक्षा बहुत ही कम है। यह सच है कि मुख्य भेद इस समय भी जैसेका तैसा ही है ; पाश्चात्य-जीवन-प्रवाह इस समय प्रधानतः युक्तिवाद और जड़वादके द्वारा ही नियंत्रित हो रहा है। किन्तु चिन्ताके उच्चातिउच्च स्तरमें एक महान परिवर्त्तन आरम्भ हो गया है और वह

कला, काव्य, संगीत एवं साधारण-साहित्यसे होकर नीचेकी ओर भी क्रमशः अधिकाधिक और निश्चिन्त भावसे संचारित हो रहा है। सारी गम्भीर वस्तुओंकी ओर दृष्टि जा रही है, जो अनुसन्धान निर्वासित हो गया था, वह फिर लौटकर वापस आ रहा है, अत्यन्त महान नयी अनुभूति और उपलब्धिके लिए प्रेरणा दिखलायी पड़ रही है, पाश्चात्य हृदयके साथ बहुत दिनोंसे अपरिचित भाव और चिन्ताएँ फिर स्वीकृत हो रही हैं। इस प्रवाहकी सहायता करके तथा इस प्रवाहकी सहायता पाकर भारतीय और प्राच्य भावोंका बहुत-कुछ संचारण हुआ है, यहाँतक कि जहाँ-तहाँ प्राचीन अध्यात्म आदर्शका ऊँचा मूल्य और महत्त्व भी बहुत-कुछ स्वीकृत हुआ है। इस संचारण-क्रियाका आरम्भ प्राच्यके साथ यूरोपके निकट स्पर्शकी पहली अवस्थासे हुआ था; अंगरेजोंको भारतपर अधिकार करनेमें इस स्पर्शका सुयोग मिला था। पहले-पहल यह अत्यन्त स्वल्प या थोड़ा था, बाह्यिक अथवा कुछ श्रेष्ठ हृदयोंपर मानसिक प्रभावके रूपमें था। पंडित और चिन्ताशील व्यक्ति वेदान्त, सांख्य और बौद्ध-धर्मके प्रति आकृष्ट हुए, भारतीय दार्शनिक भाववादकी (idealism) सूक्ष्मता और उदारताने प्रशंसाकी वृद्धि की, सोपेनहर और इमर्सनके समान श्रेष्ठ विद्वान व्यक्ति तथा कितने हो व्यक्ति उनकी अपेक्षा कम शक्तिशाली होनेपर भी समसामयिक प्रभाव-सम्पन्न

व्यक्तियोंके हृदयोंपर गीता और उपनिषद्ने एक गहरी छाप लगायी। किन्तु यह प्रभाव अधिक अग्रसर नहीं हुआ और इसका जो फल होता, उसके वैज्ञानिक जड़वादकी कँटोली झाड़ियोंद्वारा सामयिक भावसे निरुद्ध और नष्ट हो जानेकी सम्भावना थी ; उस जड़वादने उन्नीसवें शताब्दके शेष भागके समस्त जीवन-आदर्शको ही निमज्जित कर दिया था।

किन्तु इसी बीच अन्यान्य आन्दोलनोंका आरम्भ हुआ है और दार्शनिक चिन्ताधारा युक्तितंत्र जड़वादसे स्पष्ट रूपमें घूम-कर खड़ी है। एक ओर तो संसारके सम्बन्धमें अधिकतर प्रशस्त चिन्ता और दृष्टिकी खोजमें भारतीय अद्वैतवादने (Monism) बहुतोंके हृदयोंपर सूक्ष्म किन्तु शक्तिशाली प्रभाव डाला है, यद्यपि वह अधिकांश स्थानोंपर अद्भुत रीतिसे प्रच्छन्न है ;—और दूसरी ओर नये दर्शनशास्त्रका आविर्भाव हुआ है, जो कि प्रत्यक्ष रूपसे अवश्य ही अध्यात्मवादीकी अपेक्षा प्राणवादी (Vitalistic) और व्यवहारवादी (pragmatic) अधिक है, तथापि उनकी अधिकतर अन्तर्मुखीनताके लिए वह इसमें भारतीय चिन्ताधाराके अधिक समीप हो गया है। वैज्ञानिक अनुसन्धान की हुई प्राचीन वस्तुओंका नष्ट होना आरम्भ हो गया है। अनेक तरहके साइकिक अनुसन्धान (Psychic research) एवं मनोविज्ञानकी नयी धारा यहाँतक कि साइ-

किजम् अकाल्टिजम्के प्रति श्रद्धा भी क्रमशः अधिक होती दिखायी पड़ रही है ; यद्यपि इन सबमें इस समय भी धर्म और साइंस दोनोंके द्वारा अधिक परिमाणमें बाधा पड़ रही है। थियोसोफी-(Theosophy) ने उसके व्यापक समन्वय एवं प्राचीन आध्यात्मिक और साइकिक् (Psychic) तत्त्वोंके प्रति निष्ठा रखकर सर्वत्र जो प्रभाव डाला है, वह थियोसोफिस्ट नामसे परिचित व्यक्तियोंका भ्रम छुड़ाकर बहुत दूरतक व्याप्त हो गया है। बहुत दिनोंके उपहास और कुत्सा या अपवादके द्वारा बाधा पड़नेपर भी वह कर्मफल, पुनर्जन्म और सृष्टिका विभिन्न-स्तर (Planes of Existence), देहधारी जीवोंकी वृद्धि और चेतनाके भीतरी आध्यात्मिकताका क्रमविकाश है,—इन सब तत्त्वोंने विश्वासका प्रचार करनेमें विशेष सहायता की है। ये सब ऐसे तत्त्व हैं, जिनके एकवार स्वीकृत हो जानेपर जीवन सन्बन्धी सारी धारणाएँ जड़से परिवर्त्तित होनेके लिए वाध्य हैं। यहाँतक कि साइंस स्वयं ही बारम्बार ऐसे सब सिद्धान्तोंमें उपनीत हो रहा है, जो जड़-जगतके स्तरमें एवं इसकी उपयोगी भाषामें केवल उसी सत्यकी पुनरावृत्ति है, जिसका प्रचार प्राचीन भारत इससे पहले ही आध्यात्मिक ज्ञान एवं वेद-वेदान्तकी भाषामें कर चुका है। इन सब अग्रगामी चेष्टाओंके प्रत्येक तत्त्वने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे प्राच्य और पाश्चात्यके हृदयको एक दूसरेके

निकट कर दिया है, तथा भारतीय चिन्ताधारा और आदर्श उसे अच्छी तरह जाननेके लिए मार्ग बनाता जा रहा है।

मनोभावका यह परिवर्त्तन किसी-किसी ओर बहुत आगे निकल गया है ; और यह परिवर्त्तन रातदिन बराबर बढ़ता ही जा रहा है, ऐसा जान पड़ता है। सरजान उडरफने एक ईसाई पादरीकी बातका उल्लेख किया है, वह "विस्मित हुए हैं कि हिन्दुओंका सर्वेश्वरवाद (Pathheism) जर्मनी, अमेरिका यहाँतक कि इंगलैंडके भी धर्म-विषयक ध्यान-धारणाओंमें बहुत अधिक परिमाणमें प्रवेश करने लग गया है" तथा वह सन्देह करते हैं कि इसका क्रमशः वर्द्धनशील प्रभाव परवर्त्ती वंशजोंके लिए एक "आफत" है। सरजान उडरफने एक लेखकका भी उल्लेख किया है ; वह यहाँतक कहते हैं कि यूरोपकी जितनी श्रेष्ठ दार्शनिक सूझ है, वह सब पूर्ववर्त्ती ब्राह्मणोंकी सूझसे ग्रहण की गयी है। वह यह भी कहते हैं कि मनुष्य आधुनिक युगमें अपनी बुद्धिकी सहायतासे जिन समस्याओंका समाधान कर रहा है, प्राच्य विद्वान इससे बहुत पहले ही वह सब समाधान कर गये हैं। एक जगद्विख्यात फ्रांसीसी मनस्तत्वविद्ने एक भारतीय अभ्यागतसे कहा है कि यथार्थ मनोविज्ञानकी स्थूल धारा और प्रधान सत्यका आविष्कार भारत बहुत पहले कर चुका है ; उसने प्रशस्त और प्रांजलि भाषामें सब-कुछ कह दिया है, अब

केवल उसीका सटीक वर्णन करने तथा उसको वैज्ञानिक परिज्ञाओंके प्रयोगोंसे पूर्णांग करनेमें यूरोप लगा हुआ है और इतना ही वह कर भी सकता है। ये सब उक्तियाँ क्रमवर्द्धनशील परिवर्त्तनका अन्तिम दिग्दर्शन करानेवाली हैं, उसकी गति किसी-किसी ओर अत्यन्त स्पष्ट है। यह परिवर्तन केवल दर्शनशास्त्रों और ऊँची सूझोंके द्वारा ही लक्षित हो रहा है, सो नहीं है। यूरोपकी कला किसी-किसी विषयमें अपनी पुरानी प्रतिष्ठित जगहसे खिसक रही है, उसकी दृष्टि नवीन होती जा रही है तथा वह निजी भावोंसे इस प्रकारकी प्रेरणा ग्रहण कर रही है, जिसका अब-तक केवल भारतमें ही सम्मान था। भारतीय कला भी सब जगह आदरकी दृष्टिसे देखी जाने लगी है। कुछ समयसे कविता-ने भी अनिश्चित रूपसे एक नयी भाषामें वर्णन करना आरम्भ कर दिया था, तथा जबसे रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी प्रतिष्ठा संसार-व्यापी हुई है, तबसे प्रायः ही यह बात देखी जा रही है कि साधारण लेखकोंकी रचनाएँ भी ऐसी सूझों और भावोंसे पूर्ण हो रही हैं, जिसके पहले भारतीय, बौद्ध और सूफी साहित्यके बाहर कदाचित कहीं दर्शन मिलता या नहीं, इसमें भी सन्देह है। कहाँतक कहें, साधारण साहित्यमें भी इस घटनाका प्राथ-मिक चिह्न कुछ-कुछ देखा जा रहा है। नवीन सत्यकी खोज करनेवाले अधिकांश व्यक्ति आजकल भारतमें ही अपनी आध्या-

त्मिक निवास-भूमि पा रहे हैं, अथवा यों कहिये कि अपनी प्रेरणाकी पूरी सामग्री भारतमें पा रहे हैं। इस परिवर्तनकी गति यदि अपना वेग बढ़ा दे (और इसके विपरीत होनेकी कोई सम्भावना भी दिखलायी नहीं पड़ती) तो प्राच्य और पाश्चात्य-में जो व्यवधान है वह चाहे पूर्ण रूपसे दूर न भी हो, तब भी दोनोंके बीच मिलनका सेतु (पुल) निर्माण हो जायगा तथा उस दशामें भारतीय संस्कृति और आदर्शका पक्ष समर्थन करने-की नींव और भी सुदृढ़ हो जायगी।

किन्तु यदि इस प्रकार मिलन और भारका पड़ना निश्चित हो तो फिर भारतीय संस्कृतिके आक्रमण-मूलक पक्षका समर्थन करनेकी विशेष आवश्यकता ही क्या है? अथवा किसी भी प्रकार-के पक्षके समर्थनका ही क्या प्रयोजन ? वस्तुतः भविष्यमें एक विशेष भारतीय संस्कृतिके रोक रखनेमें ही कौनसी सार्थकता है ? प्राच्य और पश्चात्य ये दोनों विपरीत संस्कृतियाँ एक दूसरे-में जाकर शुद्ध होंगी और सम्मिलित मानव-जातिके लिए एक साधारण विश्व-संस्कृति (world-culture) या विश्व-सभ्यताकी सृष्टि करेंगी ; उसीमें सारी पूर्ववर्त्ती संस्कृतियाँ मिल जायँगी तथा इसी तरह वे अपनेको सफल बनावेंगी। किन्तु समस्या है बड़ी जटिल, इसका हल होना सरल नहीं है। प्रथमतः, अभी भी इस प्रकारकी किसी भी निश्चित और सन्तोषजनक परिणतिसे

बहुत दूर है—यद्यपि मान लिया जाता है कि सम्मिलित विश्व-सभ्यतामें प्रबल विशेषता-सूचक विचित्रताका कोई भी आध्यात्मिक प्रयोजन या प्राणकी उपयोगिता नहीं रहेगी । सबकी अपेक्षा अग्रगामी आधुनिक चिन्ताधाराका अन्तर्मुखी और आध्यात्मिक भाव आज भी अल्प-संख्यक लोगोंमें ही सीमाबद्ध है और उसने यूरोपकी साधारण बुद्धिको यहाँतक केवल अनुरंजितमात्र किया है । इसके अतिरिक्त वह अभीतक केवल चिन्ताके क्षेत्रमें ही सीमाबद्ध है ; जीवनके क्षेत्रमें यूरोपीय सभ्यताकी ऊँची प्रेरणाएँ जैसी थीं, आज भी वे वैसी हैं, केवल मानव-समाजको पुनर्गठित करनेकी चेष्टामें आदर्शका प्रभाव विशेष रूपमें अनुभूत हो रहा है । इस सन्धिकालमें तथा इस प्रकारकी अवस्थामें समूचा मानव-जगत् (भारत भी उसके अन्तर्गत है) द्रुत व्यापक रूपान्तर क्रियाके गहरे दबाव और वेदनाके आवर्तमें निक्षिप्त होकर चल रहा है । इस समय संकट यह है कि यूरोपकी प्रभावशाली चिन्ता और प्रेरणाकी पूर्ण व्यथा, राजनीतिक क्षेत्रमें सामयिक प्रयोजन-सिद्धिका प्रलोभन, अनिवार्य परिवर्त्तनका वह तीव्र वेग जो गम्भीर चिन्ता और आध्यात्मिक विचारोंके विकाशका अवसर नहीं देता, यह सब अत्यन्त सांघातिक भावसे भारतकी प्राचीन संस्कृति और समाज-व्यवस्थाको क्षुब्ध कर सकते हैं,—उस संस्कृति और समाजमें आज ऐसी शक्ति नहीं है कि वह जातीय

और पारिपार्श्विक या समीपवर्त्ती आवश्यकताओंको मिटा सके ; भारतकी पूरी अवस्थाका भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करने एवं उसके निजी सत्त्व और आदर्शके अनुसार विकाश और प्रगति-की सुदृढ़ दीवार बनानेमें जितना समय लग जायगा, उससे बहुत कम समय यानी उससे पहले ही सम्भवतः भारतकी प्राचीन सभ्यता चूर्ण-विचूर्ण हो जायगी। ऐसा होनेपर उस विप्लवसे एक युक्तिवादी पाश्चात्य भावापन्न भारतका आविर्भाव हो सकता है और ऐसी दशामें उसकी प्राचीन चिन्ता-धाराके किसी-किसी अंशका प्रभाव अवशिष्ट (बाकी) रहनेपर भी, वह फिर उसके समूचे जीवनको गठित और नियंत्रित नहीं करेगा। अन्य देशोंकी तरह भारत भी पाश्चात्य आधुनिकताके साँचेमें ढल जायगा—प्राचीन भारतकी मृत्यु हो जायगी।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस प्रकारकी घटनाको अशुभ नहीं समझते, बल्कि इस प्रकारके फलकी आकांक्षा करते हैं। ऐसे लोगोंके विचारसे इस प्रकारकी घटनाका अर्थ यह होगा कि भारतने अपना आध्यात्मिक स्वातंत्र्य खो दिया है और एक अत्यन्त आवश्यक परिवर्त्तनसे संसारकी सभामें अपने लिये स्थान बना लिया है। और यदि प्राचीन भारतकी मृत्युकी बातका उल्लेख किया जाय, तो उस नवीन संसारके समाजमें आध्यात्मिकता और अन्तर्मुखीनता क्रमशः अधिकाधिक प्रवेश करेगी ; सम्भवतः

भारतके ही धर्म और दार्शनिक उद्गारोंका बहुतसा अंश वह, नवीन संस्कृति ग्रहण करेगी, इसलिए उसे पूर्ण रूपसे हानिकारक नहीं कहा जा सकता। पुराने ग्रीसकी भाँति पुराना भारत भी गत होगा और एक नवीन तथा अधिकतर व्यापक रूपसे उन्नतिशील मानव-जातिके लिए अपना कुछ अवदान[1] रख जायगा। किन्तु ग्रीक और रोमन संस्कृतिको भी यूरोपीय समाजने ग्रहण किया था, जिससे वह बहुत अंशोंमें प्रधान रूपसे क्षुण्ण था एवं उसकी उच्च और स्वच्छ बुद्धिमत्ता तथा सौन्दर्य-चर्चा नष्ट हो गयी थी; कई शताब्द बीत जानेपर भी अभीतक वस्तुतः उसका पुनरुद्धार नहीं हुआ। एक स्वतंत्र सभ्यताके रूपमें भारतीय सभ्यता यदि नहीं रहेगी तो वह आजकी अपेक्षा और भी अधिक मात्रामें क्षुण्ण हो जायगी; कारण यह कि यूरोपीय आधुनिकताके साथ भारतके आदर्शका भेद कहीं अधिक गम्भीर है।

साधारण पाश्चात्यके मनकी गति है, नीचेसे ऊपरकी ओर जीवनका विकाश करना, प्राण और जड़-सत्ताको ही उसका आधार समझकर ग्रहण करना तथा ऊर्द्ध्वकी सारी शक्तियोंका केवल इसलिए आह्वान करना कि वे इस प्रकृत पार्थिव जीवनको

---

१ जिस कर्ममें प्रवृत्त होनेसे सबलोग प्रशंसा करें उस समाप्त हुए कर्मको अवदान कहते हैं। साधारणतया इसे यश भी कह सकते हैं।

संशोधित और बहुत-कुछ उन्नत बना देंगी। भारतका अविरत[1] प्रयास हुआ है ऊर्द्ध्वके अध्यात्म सत्यके ऊपर जीवनको स्थापित करने तथा भीतरी आत्माके द्वारा जीवनका वाह्य विकाश करनेका; वैदिक ऋषियोंने जैसा कहा है कि, "नीचीनाः सूपरुपरि बुध्न एषाम्, अस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः"—"हमारी दिव्य स्थापना ऊर्द्ध्वमें है, उसकी सारी किरणें हमारी आभ्यन्तरिक सत्ताके भीतरसे होकर नीचेकी ओर आती हैं, ।" इस समय यही तो भेद है, यह केवल निरर्थक सूक्ष्मता नहीं है बल्कि इसका फल कार्यतः गम्भीर और गुरुतर है,—क्रिश्चियन-धर्मको लेकर यूरोपने कैसा व्यवहार किया है, इसीसे हमें उसका प्रमाण मिलता है; इस धर्मको कभी भी उसने अपने जीवनका ध्येय समझकर ग्रहण नहीं किया, इस बातको उसने स्वीकार किया है तथा व्यवहार किया है केवल इसलिए कि जिसमें वह ट्यूटन-जाति-सुलभ तेजपूर्ण प्राण-शक्तिको तथा लेटिन (Latin) जातिकी मानसिक स्वच्छता एवं इन्द्रिय भोगात्मक सभ्यताको कुछ संशोधित और आध्यात्मिक भावसे अनुरंजित कर दे। बहुत सम्भव है कि किसी नवीन उत्पन्न आध्यात्मिकताको ग्रहण करनेपर भी वह इसी भावसे तथा इसी प्रकारके उद्देश्यसे उसका व्यवहार करेगा, यदि इस अत्यन्त निम्न श्रेणीके आदर्शकी त्रुटि कट्टरतासे दिखला देने-

1 सचेत या अनवरत।

वाली संसारमें अन्य कोई दृढ़निष्ठ सजीव संस्कृति विद्यमान न रहे। सम्भवतः मानव-समाजकी पूर्णताके लिए दो प्रकारकी प्रवृत्ति आवश्यक है। किन्तु यदि आध्यात्मिक आदर्शका अनुसरण करना मानव-समाजके ऐक्य और सामंजस्यमें पहुँचनेका प्रकृत और अन्तिम मार्ग हो, तो भारतके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सत्यको न छोड़े, जिस श्रेष्ठ ज्ञानको उसने प्राप्त किया है उसे वह न खो बैठे तथा विनिमयमें किसी भी प्रकार पुराना प्रकृति-विरोधी अत्यन्त निम्न श्रेणीका आदर्श,—परधर्म, यानी दूसरेका धर्म, अपने धर्मकी अपेक्षा सहज साध्य होनेपर भी ग्रहण न करे। मानव-जातिके लिए यह भी विशेष आवश्यक है कि, इस अतिउच्च आदर्शको वास्तवमें परिणत करनेकी महान सामूहिक साधना,—इतने दिनोंतक चाहे वह जितने अपूर्ण भावसे रही हो, सामयिकताकी दृष्टिसे चाहे वह जैसी भी भ्रान्ति और ग्लानिमें पतित रही हो,—एकदम बन्द न हो जाय बल्कि सदा-सर्वदा उसकी शक्तिका पुनरुद्धार होता रहे तथा उसका प्रकाश फैलता रहे। प्राचीन भारतीय धर्मका नया रूप पैदा करना, किसी पश्चिमी आदर्शमें रूपान्तरित हो जाना नहीं है,—समूची मानव-जातिकी प्रगतिसे सहायता लेना हमारे लिए उत्कृष्ट मार्ग है।*

---

* एक तो योंही हम (भारतीय) स्पष्ट सृजनात्मक भारतीय आदर्शके

अतएव, हमारी आत्म-रक्षण-नीति (आत्म-रक्षा करनेकी नीति), सामर्थ्यवाली आक्रमणशील आत्म-रक्षण-नीतिके लिए लौट पड़ी है। इसका कारण हम पहले ही बतला चुके हैं कि, वर्त्तमान विरोधकी जैसी अवस्था है उसमें केवल आक्रमणशील आत्मरक्षण-नीति ही काम करनेवाली हो सकती है। किन्तु यहाँ फिर हम एक पूर्ण विपरीत मनोभावके सम्मुख आ जाते हैं, जो कि कार्यका एक महान घातक है। कारण यह कि इस समय बहुतसे भारतीय ऐसे भी हैं जो दृढ़ताके साथ स्थितिशील आत्म-रक्षणके ही पक्षपाती हैं। वे जो आक्रमणशीलता इस आत्म-रक्षण-नीतिमें लाना चाहते हैं, वह है शिष्टता-रहित और विचार-हीन उत्कट स्वजाति-प्रीति, स्वधर्म-प्रीति ; उनके विचारसे, जो कुछ है वही उत्तम है, कारण यह कि वह भारतीय है ; यहाँतक कि जो कुछ भारतमें है, वह सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि वह ऋषियोंकी

अभावमें परमुखापेक्षी हो रहे हैं, दूसरे अंगरेज समलोचकोंकी प्रतिध्वनि करते हुए कुछ भारतीय राजनीतिज्ञ और समाज-संस्कारक हमलोगोंको अंगरेजोंके समान (Anglicised) होनेकी राय देते हैं; इसी प्रकार आजकल देखा जा रहा है कि कुछ लोग अमेरिकनोंके गुणोंपर मुग्ध हुए हैं और वे केवल अमेरिकनोंके समान (Americanisation) भारतीयोंको बनानेके इच्छुक हैं। किन्तु यदि यही करना है, तो फिर हमलोगोंको (Japanise) बनानेमें क्या हर्ज है ?

सृष्टि है, उसके बाद भी जो कुछ बातें हममें आयी हैं, उनको भी सभ्यताके महान प्रतिष्ठाता उन्हीं ऋषियोंने ठीक कर दिया था। इन ऋषियोंकी ओटमें बहुतसे दुर्व्यहार, दुष्प्रयोग, यहाँतक कि बहुत-से जाल भी किये गये हैं। किन्तु प्रश्न तो यह होता है कि स्थिति-मूलक आत्म-रक्षण-नीति किसी कामकी भी है या नहीं ? हम कहते हैं, इसका कोई मूल्य ही नहीं है। कारण यह कि यह स्थिति-मूलक आत्म-रक्षण-नीति वास्तविक सत्यकी विरोधिनी है और इसकी व्यर्थता अवश्यम्भावी है। स्वाभाविक रीतिसे यह है अचल और अटल भावसे रहनेके लिए दृढ़-संकल्प-युक्त प्रयास, जब कि संसारकी शक्ति, केवल संसारकी ही क्यों भारत-की भी शक्ति, द्रुत गतिसे अग्रसर होकर चल रही है। यह है संस्कृतिके विषयमें हमारे प्राचीन मूलधन को भुनाकर खा जानेका संकल्प, हमारे अक्षम[1] और खर्चालू हाथोंमें पड़कर उसके क्षुद्र हो जानेपर भी उसीका बचा हुआ पैसा खर्च कर डालनेकी व्यवस्था। किन्तु, हमारे मूलधनके खा जानेका अर्थ है अन्तमें देवालिया और दरिद्र हो जाना। अतीत[2]को सदा व्यवहारमें लाना होगा, चालू मूलधन-(मूलपूंजी) के रूपमें और अधिक लाभ-के लिए, उपार्जनके लिए, प्रसार[3]के लिए। मूलधनकी वृद्धि करनेसे हम खर्च भी कर सकेंगे। अत्यधिक समृद्ध होकर जीवन

१ क्षमता-शून्य २ गत या भूत ३ फैलाव

व्यतीत करनेके लिए हमें कुछ-न-कुछ मूलधनमें छोड़ते रहना होगा, यही हमारे जीवनकी साधारण नीति है। नहीं तो हमारा आन्तरिक जीवन स्रोतहीन होकर नष्ट हो जायगा। एक बात और भी है; वह है अक्षमताकी मिथ्या स्वीकारोक्ति; इससे मानना पड़ेगा कि भारतकी सृष्टि-शक्ति, धर्म और दार्शनिकता शंकराचार्य, रामानुज, माध्व और चैतन्यके साथ चली गयी; समाज-गठन विद्यारण्य और रघुनन्दनके पीछे जाता रहा; शिल्प-कला और काव्य-जगतमें आशाहीन और सृष्टिहीन शून्यता विश्राम करने लगी या यों कहना चाहिये कि सुन्दर किन्तु शक्तिहीन आदर्श और सारी पद्धतियोंकी असार और प्राणहीन पुनरावृत्ति होने लगी।

किसी व्यापक परिवर्त्तनके विरुद्ध (अधिक व्यापक और साहसिक परिवर्त्तन ही इस समय आवश्यक है, हमारा एकाध सामान्य उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा) जो आपत्ति आ सकती है, उसका और सबकी अपेक्षा समीचीन रूप है, किसी संस्कृतिका वाह्य रूप और अनुष्ठान उसकी आन्तरिक आत्माकी ही उपयोगी अभिलाषा। और यह अभिलाषा नष्ट कर देनेसे सम्भवतः हम उस आत्माको ही बहुत दूर कर देंगे तथा संगति-समूहको भी नष्ट करके छोड़ेंगे। हाँ, यद्यपि आत्मा शाश्वत और सनातन है तथा उसकी सुसंगतिकी मूलनीति एकरस रहनेवाली

है—कभी परिवर्त्तित नहीं होती, तथापि कार्य-स्वरूप बाह्य रूपमें उसकी आत्म-प्रकाशकी अभिलाषा नित्य परिवर्त्तनशील है; मूल सत्तामें तथा सत्ताकी शक्तियोंमें आत्मा अक्षय, परिवर्त्तन न होने योग्य है, किन्तु जीवन-लीलामें प्रबल भावसे परिवर्त्तन-शील है,—यही जगत्‌में आत्माके प्रकाशका प्रकृत स्वरूप है। इसके अतिरिक्त हमलोगोंको देखना होगा कि वर्त्तमान समयमें जो अभिलाषा है, वह अभीतक वास्तविक रूपसे सुसंगत है, या अक्षम और अज्ञानके हाथमें पड़कर पतित हो जानेके कारण वह विषमतामें परिणत हो गयी है और इसी कारणवश प्राचीन आत्माका ठीक तरहसे या यथेष्ट रूपसे प्रकाश नहीं हो रहा है। त्रुटि स्वीकार करनेका अर्थ हताश होना नहीं है और न इसका अर्थ अन्तर्निहित आत्माको अस्वीकार करना ही है बल्कि भविष्य-सिद्धिका महान समृद्धिकी ओर अग्रसर होना ही इसका मुख्य अभिप्राय है। हमें वह महान अभिव्यक्ति और अभिलाषा प्राप्त होगी या नहीं, यह निर्भर है हमारे ऊपर अनन्त शक्ति और ज्ञानकी प्रेरणामें हमारे साहाय्य-सामर्थ्यके ऊपर, हमारी भीतरी शक्तिके प्रकाशके ऊपर; जिस सत्य सनातन आत्माको हमने अपने भीतर प्रकट किया है उसके साथ योग (मेल) प्राप्त होना निर्भर है कर्म-कुशलताके ऊपर, योगः कर्मसु कौशलम्।

भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे यही यथार्थ दृष्टि है; किन्तु हम

पर काल-धर्मका जो प्रभाव पड़ा है, उसकी दृष्टिसे भी देखना आवश्यक है। वह भी मानवजातिके ऊपर विश्व-शक्तिकी क्रिया है और उसकी अवहेला करनेसे काम नहीं चल सकता। उसका प्रवेश निषेध करनेसे भी काम नहीं चल सकता। यहाँ भी नयी सृष्टिकी नीति आ जाती है; यदि हमारा सुरक्षित तोरणके नीचे निश्चल और सुदृढ़ होकर खड़ा होना वांच्छनीय हो, तो भी वह सम्भव नहीं है। मानव-जातिमें एक स्वतंत्र स्थान ग्रहण करके, परित्यक्त समुद्रमें असहाय द्वीपकी भाँति विच्छिन्न होकर, किसी ओर बाहर न जाकर तथा किसीको भीतर न आने देकर हम टिक नहीं सकते; वस्तुतः यदि ऐसा कभी हम करना भी चाहें तो अब वह सम्भव नहीं है। अच्छा हो या बुरा, संसार हमारे निकट आ गया है, आधुनिक भाव और शक्तियोंकी लहर निरन्तर हमारे भीतर आकर गिर रही है, अब वह सैकड़ों प्रयत्न करके रोकनेसे भी नहीं रुकेगी। दो तरहसे हम उसके सामने खड़े हो सकते हैं, या तो उसमें बाधा देनेकी निराशामय व्यर्थ चेष्टा करनेसे, और या उसे ग्रहण करके उसको वशमें करनेसे। यदि हम केवल निष्क्रिय भावसे बाधा दें, तो वह हमारे गढ़का जो भाग सबसे अधिक कमजोर पावेगी, उसीको तोड़कर हमारे ऊपर आ पड़ेगी, गढ़के मजबूत भागकी दीवार तोड़ देगी, और जहाँकी दीवार नहीं टूट सकेगी वहाँ जमीनके नीचेसे सुरंग बनाकर हमारे

अज्ञान-गृहमें आ जायगी। विषम अवस्थामें प्रवेश करके वह हमारे भीतर ध्वंस करनेवाली शक्तिके रूपमें पैदा होगी तथा कुछ बाहरी आक्रमणों और अधिक भागमें भीतरी आक्रमणसे विदीर्ण होकर यह पुरानी भारतीय सभ्यता चूर्ण-विचूर्ण हो जायगी। आपत्ति-जनक स्फुलिंग (चिनगारियों) का इसी बीच चारो ओर छूटना आरम्भ हो गया है, उसकी निवृत्तिका उपाय किसीको भी मालूम नहीं है, और यदि हम उसका निवारण भी कर सकें, तब भी हमारी अवस्था संकट-रहित नहीं होगी, कारण यह कि उस दशामें भी हमें उसकी उत्पत्तिके स्थानकी खोज करनी पड़ेगी। भूतकालकी दुहाई देकर वर्त्तमान अवस्थाका समर्थन करनेमें जिन लोगोंकी अत्यन्त दृढ़ निष्ठा है, वे नवीन चिन्ताधाराके द्वारा कितना अधिक प्रभावान्वित हुए हैं, इसका प्रकाश उनकी प्रत्येक बातमें पाया जाता है। विशेषतः, अधिकांश नहीं तो बहुतसे लोग तेजीके साथ एवं अत्याज्य भावसे किसी-किसी क्षेत्रमें ऐसे सब परिवर्त्तन चाह रहे हैं, जिनका अन्तर्निहित भाव और प्रणाली यूरोपीय है, उनकी समझमें यह नहीं आ रहा है कि सम्पूर्ण भावसे समीकृत—एकीकृत—और भारतीय भावापन्न न करके इन सबको एकबार यदि प्रवेश करनेका अधिकार दे दिया जायगा तो वे जिस समाज-गठनकी रक्षा करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, उसीका वह पूर्ण रीतिसे ध्वंस कर देगा। ऐसा

होनेका कारण चिन्ताकी अस्पष्टता और शक्तिकी अक्षमता है; इन सब क्षेत्रोंमें हम स्वयं मौलिक चिन्तन नहीं कर पाते, इसलिए दूसरेके निकट इस विषम अवस्थामें ऋणी होनेके लिए विवश होते हैं, अथवा समीकरणका एक मिथ्या भानमात्र करते हैं। हम क्या कर रहे हैं, इसका पूरा अर्थ उच्च आन्तरिक और दूर-तक जानेवाली दृष्टिसे भी हम नहीं देख सकते, इसीसे हम किसी हितकर सामंजस्यका साधन न करके असमान वस्तुओंके एकत्र करनेमें व्यस्त हो रहे हैं, उल्कापात और स्फूर्त्तिमें हमारी सारी चेष्टाओंके परिणत होनेकी सम्भावना है।

आक्रमणशील आत्मरक्षणनीतिके लिए इस प्रकारकी आन्तरिक और व्यापक दृष्टिके साथ नयी रचना होनी चाहिए। जो हमारा है, उसे अधिक शक्तिशाली रूप देना होगा; और जो कुछ हमारे नव-जीवनके लिए आवश्यक है तथा हमारी सत्ताके साथ सुसंगत किया जा सकता है, उन सबको यथार्थ भावसे अंगीकार कर लेना होगा। यह कहना कि युद्ध, आघात, द्वन्द्व होनेसे ही व्यर्थ ध्वंसकांड होगा, ऐसी कोई बात नहीं है; इन सब उपद्रवोंके अन्तरालमें या मध्यमें कालका परिवर्त्तन संघटित होता है। पूर्ण कृतकार्य विजेता भी विजितसे बहुत-कुछ ग्रहण करता है। कभी तो विजेता, विजितपर अधिकार कर लेता है और कभी वह स्वयं उसका बन्दी (कैदी) हो जाता है। पश्चात्योंके जो आक्र-

मण हुए हैं, वे आक्रमण केवल प्राच्यके पांडित्य-मूलक अनुष्ठानोंके नष्ट कर देनेमें ही सीमा-बद्ध नहीं हैं। उसके साथ ही प्राच्य पांडित्यसे अधिक मूल्यवान सारवान वस्तुका अधिक भाग व्यापक और सूक्ष्म भावसे नीरवताके साथ गृहीत होकर पाश्चात्य संस्कृतिको उसने समृद्ध कर दिया है। अतएव हमारी भूतकालकी गौरवमय सम्पत्तिका जो कुछ अंश यूरोप और अमेरिका ले सकता है उसमेंसे कुछ छीन लेनेसे वह हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा; बल्कि उससे यूरोप और अमेरिकाकी ही शक्ति और समृद्धिकी वृद्धि होगी। हमारे लिए वह केवल सन्तोषमात्र करा देगा। किन्तु वह व्यर्थ है, यहाँतक कि यदि वह महान सृष्टिके लिए इच्छा-शक्तिमें परिणत न हो तो वह प्रमाद-जनक होगा। जिस कामका करना हमारे लिए अनिवार्य होगा, वह यह है—पहले ऐसी सब नवीन शक्तिशाली सृष्टिके साथ आक्रमणके सम्मुख होना पड़ेगा जो उसका केवल हनन नहीं करेगा, बल्कि आक्रमणकारियोंके देशमें उस जगह पहुँचावेगा, जहाँका पहुँचाना सम्भव है और जो मानव-जातिको सहायता पहुँचानेवाला है। दूसरे, जो कुछ हमारी आवश्यकताके उपयोगी तथा भारतीय आदर्शका अनुयायी होगा, उसे ग्रहण करना होगा; किन्तु भारतीय भावोंसे समर्थ सृष्टि-मूलक संगतिके द्वारा,—यथा, साइंसका सद्व्यवहार करना अथवा स्वाधीनता और समताके आदर्शका देशके सामा-

जिक और राजनीतिक जीवनमें प्रयोग करना। किसी-किसी चीजमें (जो अभीतक बहुत ही कम है) हमने उक्त दोनों तरहके काम आरम्भ कर दिये हैं ; और चीजोंमें हमने केवल निरर्थक मिश्रण ही पैदा किया है, अथवा हठकारितासे असंस्कृत और अजीर्ण (नवीन) अनुकरण किया है। केवल आक्रमण-कारियोंके यंत्र और प्रणालीका अनुकरण करना सामयिक दृष्टिसे सुविधा-जनक हो सकता है, किन्तु केवल इतना ही करनेसे फल-स्वरूप एक तरहकी पराजयके अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। केवल ग्रहण करना ही यथेष्ट नहीं है, भारतीय आदर्शके साथ उसका मिलाना अत्यन्त आवश्यक है। यह समस्या अत्यन्त कठिन और विराट् है, और हम प्रकृत ज्ञान और अन्तर्दृष्टिके साथ उसके सम्मुख नहीं हो रहे हैं। इससे वह और भी अधिक आवश्यक हो गया है—अवस्थाके सम्बन्धमें सचेत होने तथा मौलिक चिन्ता और निश्चित कर्मधाराको लेकर उसके समाधानमें प्रवृत्त होनेकी।

३

किन्तु हमारे सामने जो यह तर्क है कि भारत सभ्य है या नहीं, इसपर विचार करनेके लिए एक पहलू और है; उस पहलू-से देखनेपर यह केवल पांडित्य विषयक स्वार्थ और पक्षपातपन-के द्वन्द्वसे निकली हुई समालोचनामात्र नहीं रह जाता, बल्कि चमत्कार-पूर्ण प्रश्नके आकारमें उपस्थित एक विशेष छानबीन करनेके योग्य और अर्थपूर्ण समस्याके रूपमें दिखलायी पड़ता है। आधुनिक दृष्टिसे मानव-जातिके क्रम-विकाशमें संस्कृतिका उपार्जित कीर्त्तिके रूपमें विवेचन करके हम यह उत्तर दे सकते हैं कि भारतीय सभ्यता जो कि संस्कृतिका मूर्त्त (साकार) प्रकाश है, यह संसारके इतिहासमें विदित है कि वह किसी भी महान सभ्यताके समतुल्य है, वह धर्ममें महान है, दर्शनमें महान है, विज्ञानमें महान है, नाना प्रकारके चिन्तनमें महान है, साहित्य-

में, कलामें, काव्यमें महान है, शिल्प-वाणिज्यमें महान है, राष्ट्र-नीतिक और समाजनीतिक संगठनमें महान है। उसमें बहुत-कुछ कालिमा भी है, स्पष्ट दोष-त्रुटि और अपूर्णता भी है; किन्तु इससे क्या ! ऐसी कौनसी सभ्यता है जो बिलकुल निर्दोष और त्रुटि-रहित है ? उसमें भारी पोल है, कहीं-कहीं ज्योति-हीनता है, उसमें बहुतसे स्थान ऐसे हैं जो आकर्षण-रहित या सामान्यतः आकर्षक हैं ; किन्तु हम तो यह जानना चाहते हैं कि किस सभ्यतामें ये सारी बातें नहीं हैं ? चाहे जितनी कट्टरतासे तुलना क्यों न की जाय, भारतकी हार कदापि नहीं हो सकती। वर्त-मान समयमें काल-धर्ममें जो युग-सन्धि मौजूद है तथा मानव-जातिकी वर्त्तमान और अव्यवहित[1] परवर्त्ती जिस वस्तुकी आव-श्यकता है, उसपर दृष्टि रखते हुए हम कह सकते हैं कि यद्यपि हमारी सभ्यताका कोई-कोई बाहरी अनुष्ठान अनुपयोगी हो गया है, एवं अन्यान्य अनुष्ठानोंको परिवर्तित और संशोधित करनेकी आवश्यकता है (यह बात यूरोपीय संस्कृतिके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है, उसके सम्प्रति[2] उपार्जित अग्र-गमनशील और अवस्थानुयायियोंको भी अपना शीघ्र परिवर्त्तन कर लेनेके अभ्यासकी भी), तथापि भारतीय संस्कृतिके मूलगत भावकी प्रधान कल्पनाएँ उसके सारे श्रेष्ठ आदर्श, केवल मानव-जातिकी

---

१ जो आच्छादित न हो। २ इस समयमें।

वाणी ही नहीं बल्कि उसमें जो शक्ति निहित[1] है उससे उसकी नयी आवश्यकता, नये भावोंके स्पर्शसे अपने भीतरसे ही हमारी वर्त्तमान समस्याका ऐसा समाधान प्रकट कर सकता है, जो समाधान पश्चिमी देशोंसे कर्जके रूपमें लाये हुए समाधानकी अपेक्षा किसी अंशमें निकृष्ट नहीं होगा वरं और उत्तम ही होगा। किन्तु अभी आदर्शके भविष्यकी ओर दृष्टि डालना बाकी है ; किस लक्ष्यकी ओर मानव-जाति अग्रसर हो रही है, वर्त्तमान केवल उसकी आशाको बिलकुल छिपे भावसे पकड़े हुए हैं, निकट भविष्यमें हम जो कुछ प्राप्त करनेकी आशा करते हैं या चेष्टा करते हैं, वह केवल एक स्थूल प्रारम्भिक उद्योगमात्र है, ऐसे सब आदर्शोंकी कल्पना हुई है जो वर्त्तमान हृदयोंमें अलीक (मिथ्या) स्वप्नवत् प्रतीयमान होनेपर भी अधिकतर अग्रसर मानव-समाजके निकट उसकी दिनोदिन पारिपार्श्विक या पार्श्व-वर्त्ती अवस्थाके अत्यन्त साधारण व्यापारके रूपमें परिगणित—सब तरहसे गणनाके योग्य—हो सकते हैं। इस दृष्टिसे भी कुछ आलोचना करनेके लिए बाकी है।

यह मानव-जातिकी प्रगतिका प्रश्न है, मानवीय सभ्यताके परिणाम-स्वरूप अधिकतर पूर्णता प्राप्त करनेका प्रश्न है। किसी-किसीकी दृष्टिमें प्रगतिकी धारणा ही भ्रान्ति और माया है ;

---

१ स्थापित।

वे सोचते हैं कि मनुष्य अनवरत[1] वृत्ताकार चक्कर लगाया करता है और बहुधा जो कुछ महत्त्व दिखलायी पड़ता है वह अतीत या भूतकालमें ही देखनेको मिल सकता है, मनुष्य तो क्रमशः अवनतिके प्रवाहमें ही बहता रहता है। किन्तु यह केवल भ्रान्ति है; अतीतके उच्चतम शिखरपर स्थित ज्योतियोंपर दृष्टि डालने, उसके छायामय स्थानोंकी उपेक्षा करने और वर्त्तमानके अन्धकारमय स्थानोंपर पूरी दृष्टि रखने, वर्त्तमानकी ज्योतिकी शक्ति और आशाके स्वप्नोंकी उपेक्षा करनेसे तो भ्रान्ति पैदा होती ही है—ये तो भ्रान्तिके उद्भव स्थान हैं। प्रगतिकी गति असमान है यानी एकसी नहीं है; तीव्र गमन और मन्द गमन, दिन और रात, जगरण और निद्रा आदि रूपोंमें प्रकृति अपने क्रम-विकाशका साधन करती है, अथवा सामयिक भावसे किसी-किसी वस्तुको आगे बढ़ानेके लिए ऐसी बहुतसी वस्तुओंको क्षुण्ण बना देती है, जिन वस्तुओंको उपयोगिता पूर्णताकी साधनाके लिए जरा भी कम नहीं। प्रगतिकी इस पद्धतिसे भ्रान्त अनुमानके फल-स्वरूप इस प्रकार भ्रान्ति पैदा हो सकती है; यह तय है कि मनुष्य जिस प्रकार जाने हुए मार्गसे निश्चिन्त होकर चलता है, अथवा सेना अपने निर्द्धारित पथपर आगे बढ़ती है, प्रगति उस तरह निश्चिन्त रूपसे सरल रेखापर अग्रसर नहीं होती; इसकी गति

---

१ निरन्तर या नित्यप्रति।

अधिकतर अपरिचित देशमें भाग्यकी खोज करनेवाले मनुष्यकी-सी रहती है ; इस प्रगतिके रास्तेमें बहुतसी ऐसी वस्तुएँ आ जाती हैं जिनकी उसे कभी भी आकांक्षा नहीं रहती, बहुतसी ऐसी बाधाएँ आकर उपस्थित हो जाती हैं जिनसे बड़े कतर-व्योंतसे छुटकारा मिलता है, बारम्बार उसके पैर फिसल जाते हैं, बहुतसे स्थानोंपर वह भूल कर जाती है, एक वस्तु प्राप्त करनेके लिए अन्य वस्तुको छोड़ देती है और विस्तृत रूपसे अग्रसर होने या फैलनेके लिए फिर-फिर पीछे हट जाती है। इसीसे हमें यह दिखलायी पड़ता है कि भूतकालके साथ तुलना करके देखनेपर वर्त्तमान सदा अच्छा नहीं दिखलायी पड़ता और जिस वस्तुमें वर्त्तमान बहुत उन्नत रहता है उसमें भी कभी-कभी न्यूनता प्रतीत होती है। किन्तु मनुष्य तो आगे बढ़ता ही है ; व्यर्थतामें भी सफलताका आयोजन या उद्योग हो रहा है। हमारी रात्रियाँ भी अपनेमें महान उषाका रहस्य वहन कर रही हैं। हम अपनी व्यक्तिगत प्रगतिमें यह बराबर देख पाते हैं, किन्तु यह समष्टिगत मानव-जीवनके सम्बन्धमें भी सत्य है।

पाश्चात्य सभ्यता अपनी निरवच्छिन्न नम्रता एवं सफलतापूर्ण आधुनिकताका गर्व करती है ; किन्तु वह सभ्यता अपने लाभोंकी आसक्तिमें पड़कर कई वस्तुएँ खो बैठी है। प्राचीन युगके लोग जिन वस्तुओंके लिए बहुत प्रयास करते थे, उनमें

ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिनके लिए पाश्चात्य सभ्यता किसी तरहकी चेष्टा नहीं कर रही है। उन वस्तुओंको उसने असहिष्णुताके कारण छोड़ दिया है अथवा अवज्ञा की है। किन्तु इससे उसकी क्षति हुई है, उसका जीवन क्षुण्ण हो गया है, उसकी संस्कृति अधूरी रह गयी है। पेरिक्लेसके (Pericles) समयके अथवा दार्शनिक युगके किसी प्राचीन ग्रीकको सहसा यदि इस शताब्द-में ले आया जाता, तो इस युगमें चिन्ता-शक्तिके लाभ, मनके विस्तार, बुद्धिकी आधुनिक व्यापकता, विज्ञानकी आश्चर्य-जनक उन्नति और उसके अनेकानेक महान आविष्कार, उस आविष्कार-की प्रचुर शक्ति, समृद्धि एवं यंत्र-परिचालनकी सूक्ष्मता आदि देखकर वह अवश्य ही हर्षके साथ विस्मित होता। आधुनिक जीवनके विराट् चांचल्य और स्पन्दनसे—किंचित् कम्पनसे—वह विस्मित और मुग्ध न होकर स्तम्भित और व्याकुल हो जाता। इसके साथ ही इसकी क्षुद्रता या कृपणता और नीचता का निर्लज्ज स्तूप, इसके अपरिमार्जित या असंशोधित वाह्य प्रयोजनवाद, शरीर-भोगके लिए बन्धन-रहित या स्वतंत्र उच्छृङ्खलता एवं इसकी अनेक वस्तुओंकी कृत्रिम बकझक और रुग्णता आदि देखकर वह घृणा करते हुए मुँह फेर लेता। एक समयमें बर्बर जातिने पृथ्वीपर प्रभुत्त्व किया था, उसीका स्वाभाविक जो कुछ चिह्न अबतक मौजूद है उसका उदाहरण यहाँ उसे मिलता; क्योंकि

वह अभीतक अच्छी तरहसे ढँक नहीं गया है। इसकी बुद्धि-मत्ता, तथा जीवनके वाह्यिक आडम्बरोंको गठित करनेके लिए चिन्ता और विज्ञान-बुद्धिका सतर्क प्रयोग वह स्वीकार करता। किन्तु उसने जो स्वयं अन्तमें मन और आत्माके आन्तरिक जीवनके सम्बन्धमें ऊँची बुद्धिका स्वच्छ और उदार प्रयोग करनेमें प्रयास किया था, उसका इस समय कोई परिचय न पाकर वह क्षुण्ण हो जाता। और यदि हम पूर्वकालीन महान अध्यात्म साधकोंको इस समय ले आते, तो वे बुद्धि और जीवनके इन सब विराट् कर्मोंमें शून्यता—निस्सारता—देखकर पीड़ित होते; मनुष्यकी जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, जो वस्तु उसे उच्च बनाती है, उसी वस्तुका निरादर हो रहा है समझकर उक्त बातें भ्रान्त और मिथ्या प्रतीत होतीं। वाह्य प्रकृतिके नियमोंकी खोज करने-में प्रवृत्त होनेपर आत्माकी मुक्तिका महान साधन जो बहुत दिनों-से प्रायः बिलकुल बन्दसा हो गया है, वैज्ञानिक आविष्कारोंके द्वारा उस क्षतिकी पूर्त्ति हुई है या हो रही है, यह वे कदापि न समझते। किन्तु पक्षपात-रहित दृष्टि प्राप्त होनेपर सभ्यताके आधु-निक युगका मानव-प्रगतिके क्रमविकाशमें एक अवस्था-विशेष समझकर विवेचन करना ही समीचीन है। ऐसा करनेपर हम देख सकेंगे कि ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो मनुष्यकी पूर्णताके लिए नितान्त आवश्यकीय हैं; केवल ज्ञान और बुद्धिकी

कर्मपरता तथा शक्तिकी अधिकतर व्यापकता ही आवश्यकीय वस्तु नहीं है। ज्ञानकी उन्नति एवं उसकी सहायतासे केवल हमारी पारिपार्श्विक अवस्थापर प्रभुत्व नहीं है, बल्कि उससे अनेक ऊँचे आदर्श पैदा हुए हैं, एवं उन्हीं आदर्शोंके अनुसार मानव-समाजको परिचालित करनेकी चेष्टा हुई है ; वह चेष्टा चाहे जितनी भी वाह्यिक रही हो एवं उसके कारण चाहे वह चेष्टा जितनी भी अपूर्ण क्यों न हो। जिस वस्तुका पतन हो चुका है अथवा जो वस्तु नष्ट हो चुकी है, उसका पुनरुद्धार किया जा सकता है। उसके बाद मनुष्यका भीतरी जीवन, पूर्ण एवं सर्वतो-मुखी विकाशका सुयोग पाकर देखेगा कि वह गम्भीरता और प्रसारतामें सफल हुआ है, उसके साथ-ही-साथ हमारे ऊँचे आदर्शोंके अनुयायी वाहरकी समष्टिमें जीवनको गठित करनेकी संलग्नतापूर्ण चेष्टाका अच्छा अभ्यास हममें हो गया है। इस प्रकार महान विस्तारकी सम्भावनाका हिसाब करके देखनेसे यह सब सामयिक क्षति साध्य न होगी।

यदि उपनिषदकालका, बुद्धकालका, अथवा परवर्त्ती क्लासि-कल (classical) युगका कोई प्राचीन भारतवासी आधुनिक भारतमें आवे और इसके जीवनका अवर्णनीय महान अधःपतन

⊛ कालिदासके युगको ही योगिराज श्रीअरविन्दघोषने classical नामसे सम्बोधित किया है।

तथा विशेषकर अधःपतनकी ओर ही झुकाव देखे, तो उसे अत्यन्त विषाद-ग्रस्त होना पड़ेगा। वह देखेगा समूची जातिकी, समूची वसुधाकी शोचनीय दुर्गति, सृष्टिका ऊँचे शिखरसे निराशामय नीची अवस्थामें अधःपतन। उसके मनमें अवश्यमेव यह प्रश्न उठ सकता है कि इन अधम वंशधरोंने भूतकालकी उस महान सभ्यताको कहाँ गँवा दिया—क्या कर डाला? भारतमें प्रेरित करनेकी, समुन्नत करनेकी दृढ़ता और आत्मविकाशके लिए उत्साहित करनेकी इतनी अधिक सामग्री होते हुए भी किस प्रकार वह निर्वीर्य, चेष्टा-रहित विच्छृङ्खलामें पतित हुआ; भारतीय संस्कृतिके ऊँचे भावोंको गम्भीर और व्यापक न बनाकर किस प्रकार उस भारतने उसे क्षुण्ण और ग्लानिमय कर डाला तथा अपनेको नाना प्रकारकी क्षुद्र या तुच्छ वस्तुओंके भारी बोझसे अभिभूत कर डाला? वह देखेगा कि उसके देशवासी भूतकालीन बाहरी आचार-व्यवहार रीति-नीति या रहन-सहनको तुच्छ और जर्जरित कर चुके हैं तथा महान सत्यके दस भागोंमें नौ भाग सत्य खो बैठे हैं। उपनिषद् और दर्शनोंके उदार वीर-युगकी आध्यात्मिक प्रतिभा और शक्तिके साथ वह परवर्त्ती उद्यमहीनता अथवा क्षुद्र और मौलिकता-शून्य पृथक-पृथक कर्मकी चेष्टाओंकी तुलना करके देखेगा। क्लासिकलयुगके बुद्धिमूलक अनुसन्धान किये हुए वैज्ञानिक ज्ञान-विस्तार,

सृजनात्मक साहित्य और कलाके महत्व, प्रचुर परिमाणमें उत्पादिका शक्तिका एकबारगी ऐसा ह्रास, ऐसा अधःपतन, मानसिक, दैन्य, निश्चलता, स्थितिशील पुनरावृत्ति, विज्ञानकी विरति या निवृत्ति, कलाका सुदीर्घ वन्ध्यात्व तथा सृष्टिमुखी अन्तर्ज्ञानकी अपेक्षाकृत दुर्बलताका परिमाण—देखकर वह विस्मित स्तम्भित हो जायगा। वह देखेगा अज्ञानकी ओर प्रवणता—आसक्तता,—प्राचीन समयकी सबल इच्छा और तपस्याकी क्षीणता, दृढ़ संकल्प होकर कर्म करनेकी प्रायः सम्पूर्ण अक्षमता। प्राचीनकालकी उस अधिकतर सरल और आध्यात्मिक भावसे युक्तियुक्त समाज-व्यवस्थाके स्थानपर वह देखेगा एक विषम क्रमहीन छिन्न-भिन्न व्यवस्था; उस व्यवस्थाका न तो कोई केन्द्र है, न है उसका कोई उदार समन्वय-मूलक आदर्श; उसकी अवस्था पतनशील है, कहीं तो वह पतनकी गति सामयिकतासे अवरुद्ध है, और कहीं वह द्रुत है। अवस्थाके अनुकूल व्यवस्था करनेमें कुशल भारतीय महान सभ्यता सामर्थ्यके साथ दूसरेकी आवश्यक वस्तु ग्रहण करती थी तथा जितना वह ग्रहण करती थी उसका दसगुना लौटा देनेका दावा रखती थी; आज उसके स्थानपर उसे दर्शकको देखनेको नसीब होगा हर तरहसे निरुपायताका भाव, जो कि बिना किसी प्रकारका शब्द किये घटनाचक्रोंका आघात सहन करता हुआ चल रहा है, अथवा केवल

विद्युत् प्रताड़ित वस्तुकी भाँति दो एक व्यर्थ प्रतिक्रियाके बाद अवसन्न—उदास—होकर पड़ा है, यहाँतक कि एकबार उसमें आत्म-शक्तिमें अविश्वास, अनास्था ऐसी प्रबल पैदा हो गयी थी कि देशके विचारशील व्यक्ति भी प्राचीन भावों और आदर्शों को हटाकर उसके स्थानपर विजातीय और विदेशोंसे आती हुई संस्कृतिकी ओर झुक पड़े थे। इस समय उस दर्शकको यह अवश्य दिखलायी पड़ेगा कि एक प्रकारके परिवर्तनका सूत्रपात हुआ है। किन्तु सम्भवतः यह देखकर उसे सन्देह होगा कि इसकी जड़ विशेष गहरायीतक नहीं है, अथवा यह समूची जातिकी रक्षा नहीं कर सकेगी, उसकी अभिलाषाकी दुर्बलतासे उसको विकसित करके एक नवीन और सहज सृजनात्मक कर्म-परायणतामें प्रवृत्त नहीं कर सकेगा।

किन्तु यहाँपर भी अच्छी तरहसे विचार करके देखनेपर आशाकी ही बात पायी जायगी नकि निराशाकी। भारतके इतिहासमें यह अन्तिम युग क्रमिक विकाशमें दिनके बाद रात आनेके समान हो रहा है, किन्तु यह रात अपने प्रथम भागमें बहुतसे उज्वल नक्षत्र-समूहोंसे पूर्ण थी, और जब इसमें सघन अन्धकार हुआ तब भी 'महाकवि' कालिदासकी भाषामें यह थी, विशेया तारका प्रभात कल्पकी शर्वरी (रात्रि) "दो-चार क्षीण ज्योति ताराओंको लेकर रात्रि उषाके लिए प्रस्तुत हुई है।" अधःपतनके युगमें भी सारी बातोंमें क्षति ही नहीं थी, उस समय

ऐसी बहुतसी प्रयोजनीय वस्तुओंका विकाश हुआ है ; आध्यात्मिक तथा अन्यान्य विषयोंमें ऐसा बहुतसा लाभ हुआ है, जिसकी भविष्यके लिए अत्यधिक उपयोगिता है ; अवनतिकी अन्तिम अवस्था आ जानेपर भी भीतरी सत्ताका एकदम ही सर्वनाश नहीं हो जाता, उस समय वह केवल निद्रित और निर्बल रहती है। अपने द्वारा वह स्वयं बँधी हुई है। इस समय वह अनवरत जगानेवाले आघातोंके धक्कोंसे आत्म-मुक्तिके लिए सजग हो उठी है। इस भावसे देखनेपर यह भी कहा जा सकता है कि हमारी प्राचीन संस्कृतिकी अवनतिका अर्थ है, उसके प्राचीन रूपका क्षय और मृत्यु ; इससे नवीन सृष्टिका, यहाँतक कि महान सृष्टिका मार्ग ही परिस्कृत होता है। कारण यह कि वस्तुतः सत्ताकी अन्तर्निहित इच्छा ही घटना-परम्परामें प्रकृत मूल्यका निर्णय करती है। बाहरका दृश्यमान वास्तविक रंग तो बहुधा झूठा परिचय भी दे सकता है। यदि किसी जाति या सभ्यताकी अन्तर्निहित इच्छा मृत्युके मुखमें चली जाय अर्थात् यदि वह अवनतिकी जड़ता और मुमुर्षुके विषादको किसी तरह भी छोड़ना न चाहे, अथवा शक्तिके साथ अन्धभावसे ऐसे मार्गपर चले जो उसे ध्वंसकी ओर ले जानेवाला हो, किम्बा केवल मृतकालकी शक्तियोंका आदर करे, एवं भविष्यकी सारी शक्तियोंको अपने समीपसे दूर ठेल दे, भूतकालके जीवनके लिए

भविष्यकालके जीवनकी अवहेला करे, तो चाहे शक्ति, सम्वल और बुद्धिकी कितनी ही प्रचुरता क्यों न हो, बचनेके लिए बार-बार कितने ही आह्वान क्यों न किये जायँ, पुनः-पुनः कितने ही सुयोग क्यों न प्राप्त हों, कोई भी वस्तु उसकी मृत्युसे रक्षा नहीं कर सकेगी। हाँ, यदि अपने ऊपर दृढ़ विश्वास हो, रक्षा करनेकी प्रबल इच्छा मनमें हो, भविष्यको पकड़नेकी उन्मुखता और प्रवृत्ति हो, एवं जहाँ वह विरोधी रूपमें दिखलायी पड़े, वहाँ उसपर जय पानेका दृढ़ संकल्प हो, तो हम दुरवस्था और पराजयसे ही अदम्य विजयकी शक्ति संग्रह कर सकेंगे तथा पतनके दृश्य निरुत्साह और अधःपतनकी अवस्थासे महान नवजीवनमें प्रदीप्त होकर उठ सकेंगे।

अपने तथा मानव-जातिके जीवन और प्रगतिमें यदि हमारा यही विश्वास हो, तो हमें भूतकालके आदर्शोंका महत्व ही स्वीकार नहीं करना होगा वरं भविष्यके महत्त्वपूर्ण आदर्शोंको भी मान लेना पड़ेगा, अथवा भूतकालकी चेष्टा और सामर्थ्यके *पीछे जो खड़ा था* उसका महान विस्तार हमें स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु इस आदर्श प्रगतिकी ओरसे देखनेपर सभ्यता और बर्बरता पूर्ण आपेक्षिक बात हो जाती है। हम ऐसा कह सकते हैं कि भारत किम्वा अन्य कोई जाति या महादेश अबतक पूर्ण सभ्य नहीं हुआ; कारण यह कि मानव-जीवनके सत्य और

पूर्ण आदर्शोंका पूरा रहस्य अबतक कोई भी धारण नहीं कर सका है, कोई भी उसे पूर्ण दृष्टि एवं सर्वतोभावसे सजग होकर एक निष्ठताके साथ कार्यरूपमें परिणत करनेमें समर्थ नहीं हुआ है। सभ्यताकी संज्ञा है आत्मा, मन और देहकी सुसंगति ; वह सुसंगति अबतक कहाँ पूर्ण हुई है ? कहाँ वह सुसंगति सर्वतो-भावसे सत्य हुई है ? जाज्वल्यमान असंगति और त्रुटि कहाँ नहीं घटित होती ? जीवनके बाधा-विघ्नोंके बीच सम्पूर्ण सन्तोष-जनक, स्थायी और नित्य उन्नतिशील एकताकी तानमें भरी हुई जीवनकी सुसंगति अबतक कहाँ विकशित हुई है ? सर्वत्र ही केवल मानव-जीवनका क्षुद्र, कहाँतक कहें वीभत्स (hideous blots) दोषही नहीं, बल्कि जिन वस्तुओं-को आज हम समताके साथ ग्रहण करते हैं और जिन्हें लेकर हम गर्व करते हैं,—वे सब वस्तुएँ भावी मानव-समाजकृत बर्बरता अथवा अर्द्ध बर्बरता कहकर खूब ही विकृत हो सकती हैं। जिन वस्तुओंको आदर्श-गुणसे सम्पन्न समझकर हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है, उनमें बहुतसी वस्तुएँ उस समय अपूर्ण और दोषयुक्त कहकर विवेचित होंगी ; जिसे हम आलोक कहते हैं, उसके अधिक अंशको अन्धकारमय या अर्द्ध अन्ध-कारमय देखा जायगा। जो वाह्य रूप, वाह्य आचार अनुष्ठान प्राचीन कहकर अथवा आदिहीन अन्तहीन "सनातन" कहकर

प्रचलित होना चाहते हैं (यद्यपि सारी वस्तुओंके किसी बाह्य रूपके सम्बन्धमें ही यह बात कही जा सकती है) उनमें बहुतोंको केवल लुप्त ही नहीं होना पड़ेगा बल्कि हमारी उत्कृष्ट नीति और आदर्शोंके भीतर जो भावरूप दिया जा रहा है उसका भी विशाल परिवर्त्तन चाहते हैं; नये समन्वयमें उसे भी रूपान्तरित होना पड़ेगा। इस प्रकारके भावसे सम्भवतः उसे पहचाना भी नहीं जा सकेगा। जो एक स्थायी मूलभाव (a permanent spirit) है, उसे ही हमलोगोंको पकड़ रखना होगा। ऐसी कितनी ही गम्भीर प्रेरणाएँ हैं, मूलगत चिन्ता-धाराएँ हैं, जिनसे वंचित रहनेसे काम नहीं चलता; कारण यह कि वे हमारी सत्ताके एवं हमारी सत्ताके लक्ष्यके, मूल नीतिके, स्वधर्मके, अपरिहार्य अंश हैं; किन्तु वे किसी विशेष जातिकी हों अथवा समूची मानव-जातिकी हों, इस प्रकारकी चिन्ता-धाराएँ और प्रेरणाएँ संख्यामें स्वल्प, मूलतत्वमें सरल होती हैं तथा क्रम-विकाशशील भावसे और विचित्रताके साथ उनका प्रयोग किया जा सकता है। शेष जो कुछ हो रहा है वह सब हमारी सत्ताकी निम्नाति-निम्न स्तरकी वस्तु है, उसे परिवर्त्तनका वेग सहन करना होगा तथा कालपुरुषका अग्रगमनशील दावा पूरा करना ही पड़ेगा। सारी वस्तुओंमें स्थायी मूलभाव रहा है the permanent spirit; सत्ताका स्थिति-

शील ध्येय रहा है स्वधर्म ; और रही है क्रमिक रूप-राशिकी अपेक्षाकृत अल्प वाध्यता-मूलक नीति-परम्परा,—यह अन्त मेंकही गयी वस्तु युगका परिवर्त्तन है और वह युगधर्मानुसार चलती है। स्थिति और परिवर्त्तनकी ये जो दो नीतियाँ हैं, इन्हींका अनुसरण जातिको करना होगा। इनका अनुसरण न करनेसे जातिका नष्ट होना और अधोगतिको प्राप्त होना अवश्यम्भावी है।

हम क्या थे, क्या हो गये, तथा क्या हो सकते हैं, इस विषयमें यदि हम पूर्ण रीतिसे लाभ-जनक दृष्टि प्राप्त करना चाहें, पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहें—तो हमें तीन पृथक्-पृथक् अथच एक केन्द्राभिमुखी तुलना करके देखना होगा। हमको अपने अतीत-(भूतकाल) के साथ अपने वर्त्तमानकी तुलना करनी होगी। पहले, जो कुछ महान, सारभूत, उन्नतिकर, प्राणशक्ति-विषयक, ज्ञानप्रद, जयशील था, उन सबका निर्णय करना होगा। पश्चात् इस बातका निर्णय करना होगा कि उसमें कौनसी वस्तु हमारे पांडित्यके स्थायी मूलभाव और स्थितिशील स्वधर्मकी है, और कौनसी वस्तु साम-यिक और वाह्य रूपकी। कारण यह कि भूतकालमें जो कुछ महान था, उसे जैसे-तैसे, वर्जित रखना अथवा उसकी पुनरावृत्ति करना सम्भव नहीं ; नयी आवश्यकताएँ पैदा हो गयी हैं, अन्यान्य क्षेत्र हमारी दृष्टिके सामने आ गये हैं। दूसरे, हमलोगों-को यह भी निर्णय करना होगा कि भूतकालमें कौनसी वस्तु

दोषयुक्त, अपूर्ण, भूलसे ग्रहण की हुई, असम्पूर्ण भावसे ग्रसित अथवा केवल संकीर्ण और प्रतिकूल घटना-परम्पराके ही उपयोगी थी। कारण यह कि इस प्रकारकी धारणा करना व्यर्थ है कि भूतकालमें अथवा उसमें भी सर्वापेक्षा गौरवकी अवस्थामें सब-कुछ पूर्णरीतिसे प्रशंसनीय और चमत्कार था, मनुष्यका मन और उसकी आत्मा जो-कुछ सम्पन्न कर सकती है, वह सब उच्च कोटिका उदाहरण है। इसके बाद इस तुलनाके द्वारा हमें यह जानना होगा कि हमारे अधःपतनका मुख्य कारण क्या है। बाद इस अधःपतनके प्रतिकारका मार्ग ढूँढ़ना होगा, ताकि हमारे भूतकालमें महत्त्वका ज्ञान हमलोगोंको मोहित करके घातक जड़ता और निश्चेष्टतामें न छोड़ दे—बहुतसे लोगोंको ऐसा हुआ है—परन्तु काम ऐसा होना चाहिए ताकि वह फिरसे नये उद्योगसे महान कृतिके लिए प्रेरित कर दे। वर्त्तमानके भीतर हमलोगोंको इस बातका लक्ष्य करना होगा कि हमारी वास्तविक दुर्बलता क्या है तथा उस दुर्बलताकी जड़ कहाँपर है; किन्तु हमें अपनी दृष्टि और भी सुदृढ़ मनोयोगके साथ अपनी शक्तिके अंशोंके ऊपर तथा नवीन आत्म-अभ्युदयकी प्रेरणाओंके ऊपर आबद्ध रखनी होगी।

हमलोगोंको दूसरी तुलना करनी चाहिये पश्चिमके साथ भारतकी। पश्चिमी देशोंके भूतकालमें एवं भारतके भूतकालमें पक्ष-पात-रहित दृष्टिसे हमलोगोंको देखना होगा कि पश्चिम किन-किन

वस्तुओंमें कृतकार्य हुआ है और मानव-जातिके लिए क्या-क्या प्रदान कर सका है। इसके साथ ही पश्चिमके दोषों और त्रुटियों-को देखना होगा ; फिर देखना होगा प्राचीन भारत और मध्य-कालीन भारत उसकी तुलनामें कहाँ कृतकार्य हुआ है और कहाँ अकृतकार्य। पश्चिमके वर्त्तमानमें जो समर्थ कृतकार्यता और सजीवता दिखलायी पड़ रही है, उससे कर्त्तव्य-विमूढ़ अथवा विभ्रान्त न होकर मनोयोगपूर्वक हमें उसका पर्यवेक्षण करना होगा। साथ ही उसके अनन्त दोषों त्रुटियों, बहुतसी असफल-ताओं विपत्तियोंपर भी हमें लक्ष्य रखना होगा ; और भारतका वर्त्तमान देखना होगा इसकी अकृतकार्यतामें तथा इसके पुनर-भ्युत्थानकी विविध नवीन चेष्टाओंमें। हमें यह देखना होगा कि पश्चिमसे किस वस्तुका ग्रहण करना हमारे लिए अनिवार्य है तथा किस प्रकार हम उसे अपने निजी भावों और आदर्शोंके साँचेमें ढाल सकते हैं ; किन्तु हमलोगोंको एक बात और भी देखनी होगी और वह यह कि स्वयं हमारे भीतर हमारी स्वाभाविक शक्तिका उत्पत्ति-स्थान कहाँ है ; पश्चिम हमलोगोंको जो कुछ दे सकता है (पाश्चात्य रूपमें), उसकी अपेक्षा इस उत्पत्ति-स्थानसे हम नवीन और महान-महान शक्तिका स्रोत आहरण कर सकते हैं। और कुछ न होनेपर भी यह केवल इसीलिए महान है कि यह हमारे लिए अधिकतर स्वाभाविक है, हमारी

प्रकृतिकी विशिष्टताके लिए अधिकतर सजीव है, हमारे लिए गम्भीर सृजनात्मक संकेतोंमें अधिकतर प्राणमय भावसे परिपूर्ण है। किन्तु हमारी तीसरी एवं सबकी अपेक्षा अधिक प्रयोजनीय तुलना होनी चाहिये हमारे वर्त्तमानके साथ हमारे भविष्यके आदर्शकी। हमलोगोंको देखना होगा कि वह आदर्श है हमारी सत्ताके रूपका पुनर्गठन,—हमारे पांडित्य और सभ्यताकी नियामक शक्ति और गम्भीर प्रेरणाओंने जो वाह्य रूप ग्रहण किया है एवं जो आभ्यन्तरिक विचारधाराका अनुसरण किया है, वह सब पुनर्गठन। हम इस समय क्या हैं और भविष्यमें हम क्या हो सकते हैं, क्या होनेकी चेष्टा करना हमारा कर्त्तव्य है, इनके बीचका व्यवधान हमें देखना होगा ; निराशाको आश्रय देनेके लिए नहीं बल्कि हमलोगोंको कहाँतक अग्रसर होना पड़ेगा इसकी नाप करनेके लिए—प्रगतिकी धाराओंका निर्णय करनेके लिए—तथा कल्पना करनेकी और कार्यमें परिणत करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिए।

चाहिये मौलिक सत्यकी खोज करनेवाली चिन्ता, चाहिये समर्थ और साहसिक अन्तर्ज्ञान ; किन्तु मुख्यतः चाहिये अविचल आध्यात्मिक और यौक्तिक सत्यता। हमारे जीवन और समाजकी रीति-नीतिमें, अवनति और जघन्यताके साथ पड़ा रहनेकी बात छोड़ देनेपर भी, जो स्वयं ही भ्रान्त, समर्थनके अयोग्य, हमारे जातीय जीवनकी दुर्बलताका साधक है अथवा

हमारी सभ्यताके लिए लज्जा और अपमानकी बात है, किसी प्रकारका तर्क या अकर्मण्यता न करके यह सब हमें स्वीकार करना होगा। हम अपने अस्पृश्योंके प्रति कैसा व्यवहार करते हैं, यही एक ज्वलन्त उदाहरण है। कुछ लोग इसके कारणके सम्बन्धमें कहेंगे कि प्राचीनकालमें यह व्यवहार अपरिहार्य या अत्याज्य था। उस समय यही समाधान सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट था ; किन्तु यह अन्तिम युक्ति बड़े तर्कका विषय है, और किसी वस्तुका एक साधारण कारण बतला देनेसे ही वह वस्तु न्याय-संगत प्रमाणित नहीं हो जाया करती। कितने लोग ऐसे भी हैं जो इसकी न्यायताका प्रतिपादन करना चाहते हैं तथा जो कुछ भी हो थोड़ा परिवर्त्तन और संशोधन करके इसे वे हमारे समाजके लिए अत्यन्त प्रयोजनीय बतलाकर स्थायी भावसे बहाल रखना चाहते हैं। जो समाधान जातिका पाँचवाँ अंश चिरकाल-तक हीन बनाकर रखे वह वस्तुतः समाधान नहीं है ; वह तो दुर्बलताको मान लेना है, समाज-शरीरके लिए एवं समाजके आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक कल्याणके लिए एक घावको मान लेना है। जो समाज-व्यवस्था स्वदेश-वासियोंको हीना-वस्थामें रखनेको ही चिरस्थायी विधान बनाकर बच सकती है, उसे बचनेका अधिकार ही नहीं है। अशुभ फलोंको दबा रखने-से काम चल सकता है, वह केवल कर्मोंकी सूक्ष्मधारामें अदृश्य

भावसे कार्य करता है ; किन्तु इन सब अँधेरे स्थानोंमें एकबार सत्यका प्रकाश पड़नेपर फिर उक्त वस्तुको स्थायी करके रखना, ध्वंस और मृत्युका बीज जिलाना है । हमलोगोंको अपने समाज और विवेकके अन्यान्य अनुष्ठानोंकी ओर भी दृष्टिपात करना होगा ; देखना होगा कि कहाँ वह अपना प्राचीन अन्तर्निहित भाव और यथार्थ उपयोगिता खो बैठा है, कहाँ वह इस समय केवल मिथ्यामें परिणत हुआ है जिसका उसके निजी आदर्शके साथ या वास्तविक जीवनके साथ उसका कोई सामंजस्य नहीं है, कहाँ वह स्वयं शुभ होते हुए भी अथवा अपने समयमें कल्याण-कारी होते हुए भी अब हमारे विकाशके लिए पर्याप्त नहीं है । इन्हें देखकर या तो इन्हें रोककर नये रूप—नये अनुष्ठानकी सृष्टि करनी होगी, और या इनको एकदम परिवर्त्तित—रूपान्त-रित कर लेना होगा । ये हर समय अपनी प्राचीन सार्थकता अथवा भूतकालके आदर्शके सीमाबद्ध सत्यकी ओर फेरे जा सकते हैं, ऐसा नहीं है । कारण यह कि चाहे प्राचीन हो अथवा आधुनिक, हमें सब आदर्शोंको स्वच्छ अन्तर्दृष्टिसे देखना होगा। यह भी देखना होगा कि कहाँ उक्त सबको लाँघकर जाना होगा, कहाँ इन्हें प्रसारित और परिवर्द्धित करना होगा, कहाँ अपनी आभ्यन्तरिक सत्ताके साथ, संगति-विशिष्ट नवीन प्रशस्त या श्रेयस्कर आदर्शके साथ उक्त सबको मिलाना होगा, ताकि एक

महान भावी समन्वयके लिए वह स्थान छोड़ दे अथवा उसीमें अपना स्थान बना ले। अपने ऊपर तथा अपनी बुद्धिमें अन्तर्निहित सत्यके ऊपर विश्वासकी ही स्थायी और शक्तिशाली जीवनके लिए सबसे पहली आवश्यकता है। इसके बाद आवश्यकता है दो त्रुटियोंको स्वीकार करने एवं महान सम्भावनाओंके दर्शन करनेकी ; इसके अतिरिक्त और तरहसे स्वस्थ और जय-युक्त नवीन जीवन प्राप्त नहीं हो सकता।

हमारे भविष्यकी जो चेष्टा है, उस चेष्टासे हम सत्यको सर्वोत्कृष्ट पथ-प्रदर्शक समझकर ग्रहण कर सकते हैं। विवेकानन्दने इसी सत्यको अत्यन्त स्पष्ट भावसे देखा था—सत्य यही है कि यद्यपि हमारी सभ्यताके अन्तर्निहित भाव और आदर्श बड़े ही उत्कृष्ट थे एवं उस भाव और आदर्शका अधिकांश भाग अपने तात्त्विक रूपमें चिरकालके लिए मूल्यवान तथा आन्तरिक और व्यक्तिगत भावसे जो सब हमारे देशमें बड़ी ही दृढ़ता और शक्तिके साथ अनुस्युत या गुँथा हुआ था, तथापि समाजके समष्टिगत जीवनमें उन सबका प्रयोग हमारे देशमें कभी भी यथेष्ट साहस और पूर्णताके साथ नहीं किया गया ; यहाँतक कि वह क्रमशः अधिकाधिक संकीर्ण और त्रुटिपूर्ण होता गया था। यह दोष यथार्थतः भारतकी विशेषता नहीं है, बल्कि यहाँ इस अनेकताके कालक्रममें विशेष रूपसे स्पष्ट हो

उठा था तथा उस दोषने हमारे समाजके ऊपर दुर्बलता और पराजयकी एक छाप लगा दी थी। पहले-पहल बाहरके जीवन और आन्तरिक आदर्श इन दोनोंके बीच किसी प्रकार समन्वय-साधन करनेका उदार प्रयास था; किन्तु इसकी समाप्ति होती है, समाजकी अचलताके विधि-विधानमें ; आध्यात्मिक आदर्श-वादकी एक नीति है, बाहरी एकता और सहयोगिता-मूलक निर्द्धारित अनुष्ठानोंको सुरक्षित रखना। किन्तु इससे समाजके साधारण जीवनमें कठोर-बन्धन और भेद-विषमता-मूलक जटिलताका भाव क्रमशः बढ़ जाता है और स्वाधीनता, एकता, मनुष्योंमें देवत्व आदि महान वैज्ञानिक आदर्श केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधनाके लिए ही छोड़ दिया जाता है। इस भावसे फैलाव और ग्रहण शक्तिकी न्यूनता घटित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि जब बाहरसे प्रबल और आक्रमणशील शक्तियोंका—इस्लाम, यूरोपका भीतर प्रवेश हुआ, तब समाज केवल सीमाबद्ध और गतिहीन आत्मरक्षामें सन्तुष्ट रहा,—चाहे जितने संकीर्णभावसे हो, अन्तरात्माका विकाश चाहे जितना क्षुण्ण करनेसे हो, किसी प्रकार रक्षा कर सकना ही एकमात्र लक्ष्य हो गया। इस भावसे स्थिति और जीवनकी रक्षा तो अवश्य हुई, किन्तु वह स्थिति वस्तुतः सुनिश्चित और सजीव नहीं थी ; कारण यह कि वृद्धि और विकाशके अतिरिक्त वह असम्भव

है। अतः वह जीवन-रक्षा भी महान, सतेज और जयी नहीं हुई। अब फैलावके अतिरिक्त जीवनकी रक्षा करना भी सम्भव नहीं रह गया। इस समय हमारे लिए आवश्यक हो गया है, हमारा महान प्रयास जिसमें बाधा पड़ गयी थी, उसीको फिरसे आरम्भ करनेकी, एवं व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन, आध्यात्मिकता, दर्शन, धर्म, कला, साहित्य-विचार-परायणता, राजनीति, अर्थनीति, समाज-संगठन सर्वत्र अपने श्रेष्ठ आदर्श और ज्ञानके पूर्ण तथा महान अर्थके अनुयायी साहसके साथ सर्वांग-सम्पूर्ण भावसे जीवनका विकाश और विस्तार करनेकी। जब हम ऐसा करेंगे, तब देख सकेंगे कि पाश्चात्य रूपके अन्दरसे जो-कुछ उत्कृष्ट वस्तु इस समय हमारे समीप आ रही है, वह हमारे निजी प्राचीन ज्ञानसे केवल उपलक्षित ही नहीं हुआ है वल्कि उसी जगह उसका ऐसा गम्भीर और महत्त्व-पूर्ण अर्थ भी पाया जायगा जिससे हम और भी महान और उत्कृष्ट रूप-संगठनका पता पावेंगे। सारांश, हम जिसे बराबर जानते थे, उसीको इस समय सम्यक् रूपसे जीवनमें कार्यरूपमें परिणत करना होगा। हमारी संस्कृतिके गूढ़ अर्थ तथा परिपार्श्विक अवस्थानुयायी भविष्यके लिए हमें जिस वस्तुकी आवश्यकता है, उसका रहस्य इन्हीं दोनोंके बीचके सामंजस्यकी साधनामें हो पूर्ण-रीतिसे विद्यमान है,—और कहीं भी ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं।

इस रूपसे देखने पर हमारे सम्मुख जो दृष्टि फैली हुई है, वह प्राच्य और पाश्चात्यके बीच वर्त्तमानमें जो द्वन्द्व दिखलायी पड़ रहा है—उसके ऊर्द्ध्वमें है। मनुष्यके भीतर बैठी हुई आत्मा-का लक्ष्य समूची मानव-जातिमें ही एक है; किन्तु विभिन्न-विभिन्न जाति (Nation) भिन्न-भिन्न ओरसे विभिन्न भावसे, विभिन्न रूप और संगठन करनेमें उसकी ओर अग्रसर हुई है, एवं भगवानका निर्दिष्ट किया हुआ जो अन्तिम लक्ष्योंमें गूढ़ एकताका सूत्र है, उसे न देखकर आपसमें सब जातियाँ संग्राम कर रही हैं। सभी जातियाँ अपने लिए दावा कर रही हैं कि, हमने जिस मार्गसे चलना प्रारम्भ किया है, वही मानव-जातिके लिए एकमात्र पथ है—दूसरा नहीं; हमारा ही मार्ग एकमात्र सत्य है और हमारी सभ्यता सर्वांग सुन्दर है। द्वन्द्व और संग्राममें ही विकाश है, इसी नीतिको यूरोपीय संस्कृतिने पहला स्थान दिया है। यूरोपीय संस्कृति इसी बातको माननेवाली है कि द्वन्द्वमें ही किसी-न-किसी प्रकार सामंजस्यसे वह प्राप्त होता है; वह सामंजस्य स्वयं भी द्वन्द्वके भीतर विकाश-साधनकी ही एक विशेष-रचना (organisation) के सिवा और कुछ नहीं है; वह अपने भीतर ही बारम्बार स्वार्थ श्रेणी, जाति, आदर्श और नीतिके नये-नये द्वन्द्वोंमें परिणत होती है। उसका स्थायित्त्व अनिश्चित है; कारण यह कि उसकी नींव ठीक नहीं है। हाँ, करामात दिखलानेकी शक्ति उसमें अवश्य

है। वह तेजीके साथ घुस जानेमें तथा नयी वस्तुओंको अपनेमें मिला लेनेमें पूर्ण समर्थ है। भारतीय संस्कृति चली थी, एकताके स्थापित सामंजस्यको नीति-स्वरूप ग्रहण करके उस सामंजस्यका लक्ष्य और भी वृहद् एकताकी ओर अग्रसर करने एवं उसीके ऊपर अपनेको स्थापित करने। द्वन्द्वकी नीतिको यथा सम्भव पैदा करनेकी ही उसकी चेष्टा थी। किन्तु अन्तमें वह सामंजस्य रुकावटके द्वारा शान्ति और दृढ़ श्रृंखलाको सुरक्षित रखने एवं अपने चारो ओर माया-जाल तानकर उसीके बीचमें अपनेको आबद्ध रखनेकी चेष्टामें आखड़ा हुआ था। वह आक्रमण करनेकी शक्ति खो बैठा तथा उसकी ग्रहण करनेकी शक्ति भी दुर्वल हो गयी। हमने जिस सामंजस्यका विधान किया था, वह अत्यधिक मात्रामें स्थितिशील और सीमाबद्ध था। इस बातको हम भूल गये थे कि, जितने दिनोंतक हम पूर्णताकी अवस्थामें नहीं पहुँचते हैं, उतने दिनोंतक सामंजस्यका रूप अपूर्ण एवं सामयिकतासे भिन्न और कुछ भी नहीं हो सकता। उस सामंजस्यको सजीव रखनेके लिए एवं उसका अन्तिम लक्ष्य सिद्ध करनेके लिए उसको ऐसे ढंगसे स्वयं ही परिवर्त्तित और प्रसारित करना चाहिए, ताकि वह प्रशस्त और अधिकतर व्यापक, अधिकतर वास्तविक ऐक्यको ओर अग्रसर हो सके। इस समय हमलोगोंको अपनी संस्कृति और सभ्यताका इस प्रकार वृहद् प्रसार करनेकी चेष्टा करनी

चाहिये। हमें अपने समाजमें आध्यात्मिक और मानसिक ऐक्यके महान विकाश एवं समूची मानव-जातिके साथ, अन्ततः शेष पर्यन्त, सामंजस्य और ऐक्यका साधन करना चाहिये। कारण यह कि, हमारी आत्म-रक्षा और समीकरणकी चेष्टामें हम केवल अपने निजी प्रकृतिके धर्मानुयायी अधिक गम्भीरता और आध्यात्मिकताके साथ उन सब उत्कृष्ट और श्रेष्ठ आदर्शों-का ही अनुसरण करेंगे जो वस्तुतः समूची मानव-जातिके ह आदर्श हो रहे हैं; इस समय जिसे हम द्वन्द्व और संग्राम समझ रहे हैं, सम्भवतः वही समूची मानव-जातिके ऐक्य-साधनकी पहली और आवश्यक वस्तु हो रही है जिसे कि पश्चिम इस समय केवल idea या कल्पनाके रूपमें देख रहा तथा विरोधी स्वार्थोंमें किसी-न-किसी तरहकी कोई मीमांसा करके एवं यंत्रवत् गठित अनुष्ठानोंके भीतर प्रतिष्ठित करनेके लिए बहुत बड़ा प्रयास कर रहा है। उसीको आत्माके प्रकाशमें देखने तथा उसके द्वारा कल्पना और अनुष्ठानका विकाश करने, आध्यात्मिक सत्यके ऊपर उसकी नींव स्थापित करने आदिमें समर्थ होना भारतके लिए उचित है। केवल इसी भावसे हम अपनी प्रकृत एकता स्थापित कर सकेंगे।

❀ इति ❀